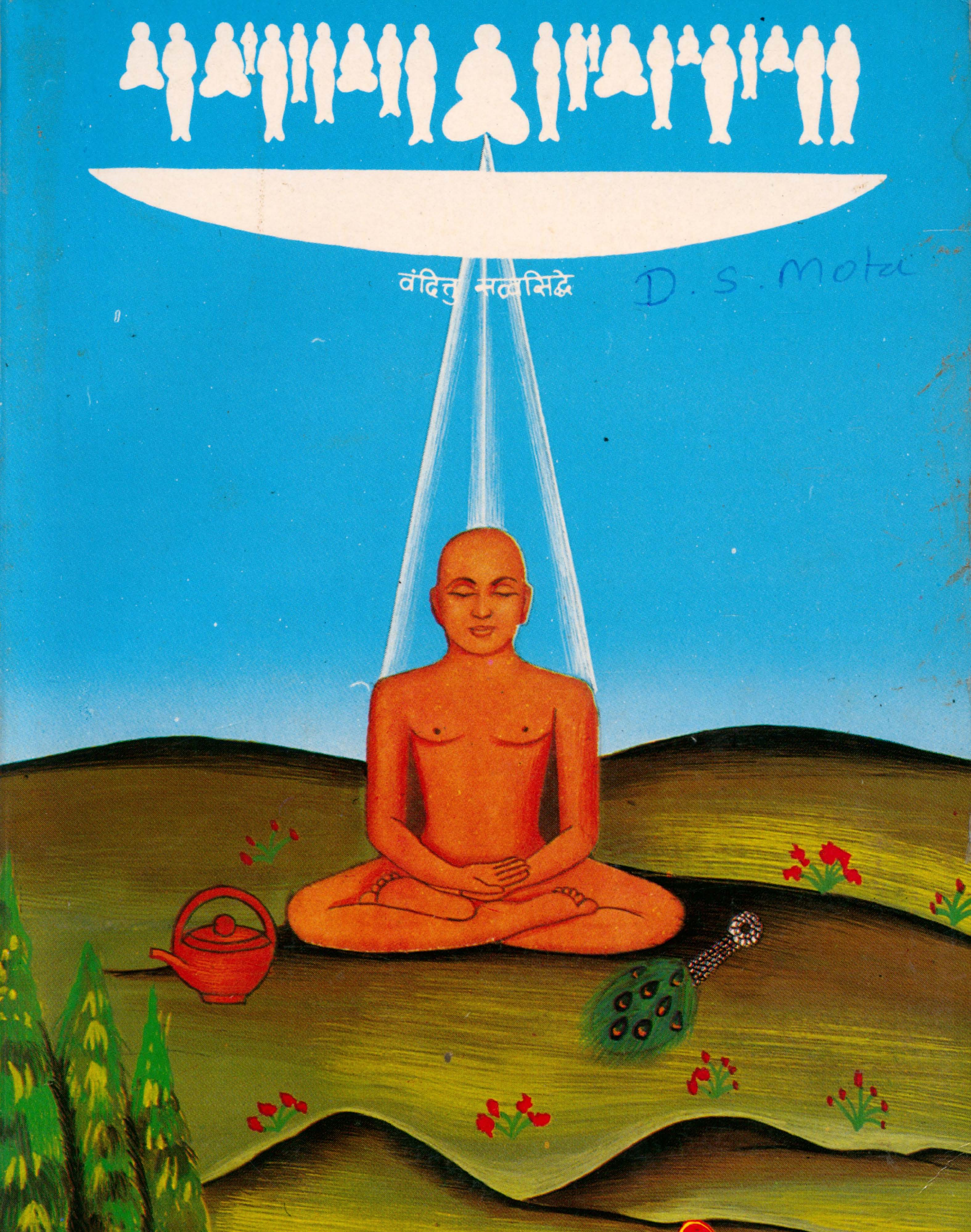

D. S. Mota

समयसार अनुशीलन

डा० हुकमचन्द भारिल्ल

समयसार अनुशीलन

(कर्त्ताकर्माधिकार एवं पुण्यपापाधिकार)

भाग २ का उत्तरार्द्ध : गाथा ११६ से १६३ तक

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच. डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन : ०१४१-५१५५८१, ५१५४५८

प्रस्तुत संस्करण : (२५ अप्रैल, १९९६)	५ हजार
प्रथम संस्करण (पूर्वार्द्ध) : (२ मई, १९९५)	५ हजार २००
प्रथम संस्करण (संयुक्त) :	५ हजार
वीतराग-विज्ञान हिन्दी-मराठी के सम्पादकीयों के रूप में	८ हजार
योग	२३ हजार २००

मूल्य : **दश रुपए**

टाइप सैटिंग :
कॉम्प्रिन्ट प्राइवेट लिमिटेड
जयपुर

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
एम. आई. रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखित समयसार अनुशीलन भाग २ के उत्तरार्द्ध (गाथा ११६ से १६३ तक) का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पूर्व में प्रकाशित भाग १ (गाथा १ से ६८ तक) तथा भाग २ का पूर्वार्द्ध (गाथा ६९ से ११५ तक) का अध्ययन तो आप कर ही चुके हैं और अबतक प्रकाशित अनुशीलन की लोकप्रियता से भी आप भली-भाँति परिचित हैं। इसका पठन-पाठन एवं स्वाध्याय नियमित रूप से विधिवत अमेरिका आदि सुदूरवर्ती देशों में भी चल रहा है और अमेरिकावासी रजनीभाई गोशलिया ने तो इसका गुजराती अनुवाद भी तैयार कर लिया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है तथा गुरुप्रसाद (गुजराती) में क्रमश: छप रहा है। मराठी अनुवाद भी तैयार हो रहा है, जो मराठी वीतराग-विज्ञान में क्रमश: प्रकाशित भी हो रहा है।

यह तो सर्वविदित ही है कि विगत २० वर्षों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो भी लिखा है; वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थाई साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। न केवल हिन्दी भाषा में उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद हो चुके हैं तथा अनेकों बार प्रकाशित हो चुके हैं।

इनमें धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारह भावना : एक अनुशीलन, चैतन्य चमत्कार, निमित्तोपादान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर, शाकाहार जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, आत्मा ही है शरण, गोम्मटेश्वर बाहुबली और परमभावप्रकाशक नयचक्र प्रमुख हैं। इन सब कृतियों ने जैन समाज एवं हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनके लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं में ३६ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अबतक लगभग

४ हजार ५०० पृष्ठ लिखे हैं, जो सभी प्रकाशित हैं। इस कृति के निर्माण की पृष्ठभूमि और परिचय के सन्दर्भ में प्रथम संस्करण की प्रकाशकीय के निम्नांकित महत्त्वपूर्ण अंश मूलरूप से उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूँ।

"आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण लगभग सभी विषयों पर उन्होंने कलम चलाई है और उन्हें सर्वांग रूप से प्रस्तुत किया है। समयसार भी आज का बहुचर्चित विषय है। आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के उदय ने समयसार को आज जन-जन की वस्तु बना दिया है। शायद ही कोई अध्यात्मप्रेमी ऐसा होगा, जो समयसार का स्वाध्याय न करता हो। इसप्रकार पूज्य श्री कानजीस्वामी का हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार है।

इसप्रकार समयसार पठन-पाठन की वस्तु तो बन गया है, पर आधे-अधूरे अध्ययन और विविध प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं ने आज कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं, कि अब उसके सर्वांग अनुशीलन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है।

इधर कुछ दिनों से उन लोगों ने भी समयसार पर लिखना और बोलना आरंभ किया है, जो अबतक समयसार के अध्ययन-अध्यापन का निषेध करते रहे हैं। वे वस्तु को जिस तरह प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

यद्यपि स्वामीजी के प्रवचनरत्नाकर उपलब्ध हैं और वे समयसार के मर्म को खोलने में पूर्णत: समर्थ हैं, पर वे प्रवचनों के संकलन हैं। प्रवचनों के संकलन और व्यवस्थित लेखन में जो अन्तर होता है, वह उनमें भी विद्यमान है।

आज स्वामीजी हमारे बीच में नहीं हैं और उन्हीं के प्रतिपादन को आधार बनाकर विसंगतियां उत्पन्न की जा रही हैं। अत: वातावरण की शुद्धि के लिए आज समयसार के सम्यक् अनुशीलन की महती आवश्यकता है। यह काम डॉ. भारिल्ल के ही बस की बात है; क्योंकि पहले भी जब जिस विषय को लेकर सामाजिक वातावरण दूषित हुआ, तब डॉ. भारिल्ल ने उन विषयों पर जो सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत किया; उससे व्यवस्थित वस्तु-

स्वरूप तो सामने आया ही, सामाजिक वातावरण भी लगभग शांत हो गया। क्रमबद्धपर्याय, परमभावप्रकाशक नयचक्र एवं निमित्तोपादान जैसी कृतियाँ इसका सशक्त प्रमाण हैं। आज ये विषय विवाद की वस्तु नहीं रहे; अत: अब तो विरोध केवल विरोध के लिए होता है और उसमें व्यक्तिगत बातें ही अधिक होती हैं, तात्त्विक बातें न के बराबर ही समझिये।

हमारा पक्का विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल ने हमारे अनुरोध पर जो समयसार अनुशीलन आरम्भ किया है, उससे न केवल मुमुक्षु समाज को *लाभ होगा, अपितु वातावरण की शुद्धि में भी यह अनुशीलन उपयोगी सिद्ध* होगा।''

वीतराग-विज्ञान के जून, १९९२ के अंक से जब इसका सम्पादकीय के रूप में प्रकाशन आरंभ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियाएं आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी। वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हें भी करते ही; पर लोगों को धैर्य नहीं था, वे अधिक प्रतीक्षा नहीं करना चाहते थे।

दिसम्बर, १९९२ में देवलाली (महाराष्ट्र) में लगने वाले शिविर में डॉ. भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के आधार पर समयसार की छठवीं-सातवीं गाथायें लीं, तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग और अधिक तीव्रता से उठने लगी, फलत: २६ मई, १९९३ को समयसार अनुशीलन भाग १ का पूर्वार्द्ध, २४ अप्रैल, १९९४ को उत्तरार्द्ध तथा १५ अगस्त, १९९४ को दोनों का संयुक्त संस्करण प्रकाशित किया गया। भाग २ को भी इसीप्रकार प्रकाशित किया जा रहा है। इसका पूर्वार्द्ध (गाथा ६९ से ११५ तक) मई, १९९५ में ५ हजार २०० की संख्या में प्रकाशित हो ही चुका है, अब इसका उत्तरार्द्ध (गाथा ११६ से १६३) तक तथा दोनों का संयुक्त संस्करण आपके हाथों में है। आशा है यह कृति आपकी आत्मपिपाशा को शांत करने में सफल होगी।

गुरुदेवश्री का तो अनन्त उपकार हम सब पर है ही; क्योंकि उन्होंने न केवल हमको विस्तार से सब कुछ समझाया है, अपितु जिनवाणी का मर्म

समझने की दृष्टि भी दी है। डॉ. भारिल्ल की सूक्ष्म पकड़ की तो पूज्य स्वामीजी भी प्रशंसा किया करते थे, पर उन्हें इसके लेखन में अथक् श्रम करते मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है; क्योंकि इसे लिखे जाने का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। उन्होंने जिसप्रकार प्रत्येक गाथा के मर्म को सहज बोधगम्य बनाया है, सप्रमाण प्रस्तुत किया है, सयुक्ति और सोदाहरण समझाया है; यह अपने आपमें अपूर्व है। मुझे पूरा-पूरा विश्वास है कि इससे अध्यात्मप्रेमी समाज को बहुत लाभ होगा। मेरे विश्वास को उन पत्रों से बल मिला है जो समय-समय पर हमें प्राप्त होते रहे हैं और जिन्हें वीतराग-विज्ञान में यथासंभव प्रकाशित भी किया गया है।

विदेशों से प्राप्त पत्रों से स्पष्ट है कि न केवल देश में अपितु विदेशों में भी इस अनुशीलन को पढ़ने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है और इसका विधिवत पठन-पाठन भी चल रहा है।

'वास्तव में यह ग्रंथ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि प्राप्त होगी' - बाहुबली कुम्भोज की विदुषी बहिन सुश्री गजाबेन की उक्त पंक्तियाँ एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध होंगी - ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत कृति को अल्पमूल्य में उपलब्ध कराने का श्रेय उन महानुभावों को जाता है, जिन्होंने हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। हम सभी सहयोगियों का हृदय से आभार मानते हैं; साथ ही सुन्दर व शुद्ध मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स व प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था सम्हालने हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को धन्यवाद देते हैं। सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति से भरपूर लाभ लें। इस मंगल भावना के साथ।

– नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री

अनुक्रमणिका

१.	गाथा ११६-१२०	१८५
२.	श्लोक ६४	१८७
३.	गाथा १२१-१२५	१८९
४.	कलश ६५	१९१
५.	गाथा १२६-१२७	१९७
६.	कलश ६६	२००
७.	गाथा १२८-१२९	२०२
८.	कलश ६७	२०३
९.	गाथा १३०-१३१	२०७
१०.	कलश ६८	२१०
११.	गाथा १३२-१३६	२१३
१२.	गाथा १३७-१४०	२२०
१३.	गाथा १४१	२२५
१४.	गाथा १४२	२२७
१५.	कलश ६९	२३०
१६.	कलश ७०-८९	२३२
१७.	कलश ९०	२४७
१८.	कलश ९१	२४८
१९.	गाथा १४३	२५०
२०.	कलश ९२	२५४
२१.	गाथा १४४	२५८
२२.	कलश ९३	२६४
२३.	कलश ९४	२६७
२४.	कलश ९५	२७४
२५.	कलश ९६	२७६
२६.	कलश ९७	२७८
२७.	कलश ९८	२८६
२८.	कलश ९९	२९०
२९.	कलश १००	३००
३०.	कलश १०१	३०३
३१.	गाथा १४५	३०७
३२.	कलश १०२	३१२
३३.	गाथा १४६-१४९	३१६
३४.	गाथा १५०	३२२
३५.	कलश १०३	३२५
३६.	कलश १०४	३२८
३७.	गाथा १५१	३३४
३८.	गाथा १५२-१५३	३३९
३९.	कलश १०५	३४१
४०.	गाथा १५४	३४३
४१.	गाथा १५५	३४८
४२.	गाथा १५६	३५३
४३.	कलश १०६-१ ८	३५६
४४.	गाथा १५७-१५९	३६१
४५.	गाथा १६०	३६५
४६.	गाथा १६१-१६३	३६८
४७.	कलश १०९	३७२
४८.	कलश ११०	३७६
४९.	कलश १११	३८०
५०.	कलश ११२	३८४
५१.	गाथा पद्यानुवाद	३८७
५२.	कलश पद्यानुवाद	३९४

प्रस्तुत संस्करण की कीमत करनेवाले दातारों की सूची

५००० रु. प्रदान करनेवाले : श्री उल्लासभाई मनसुखलालजी जोवालिया, बम्बई

२०३६ रु. प्रदान करनेवाले : श्रीमती अंजू अशोक. टी. कोठारी, अमेरिका

२००० रु. प्रदान करनेवाले : श्री माणकचंदजी पूरणचंदजी अजमेरा, जयपुर

१९०० रु. प्रदान करनेवाले : श्री जयन्तीलालजी जैन, लन्दन (इग्लैंड)

१००१ रु. प्रदान करनेवाले :

श्रीमती कस्तूरी दोशी ध.प. स्व. श्री गुमानमलजी दोशी, अजमेर हस्ते - श्री सुनीलजी दोशी, बम्बई ० श्री कृपिभूषण विजयराज फतेचंद, ब्रम्हेचा नशिक ० स्व. श्रीमती मनोहरबाई ध.प. स्व. अर्जुनलालजी चौधरी, भीलवाड़ा ० श्रीमती मानकवरजी जैन द्वारा निहालचन्दजी जैन, जयपुर ० श्री सुशीलकुमार रंगलालजी बोडा, उदयपुर ० गुप्तदान हस्ते - सुजानमलजी [illegible] उदयपुर

५०० रु. प्रदान करनेवाले :

नेता चानेकर, अकोला ० गुप्तदान हस्ते - श्री राजकुमारजी अजमेरा, रतलाम ० श्रीमती सोहनबाई ध.प. श्री कुञ्जूलालजी पाटनी, कुचामनसिटी ० श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, बूंदी ० कुसुमलता की पुण्य स्मृति में, कालखबोलारा चौक ० श्रीमती कंचनबेन शान्तिलाल शाह, बम्बई

३०१ रु. प्रदान करनेवाले :

श्री तखतराजजी जैन, कलकत्ता ० श्री फूलचन्द विमलचन्दजी झाँझरी, उज्जैन

२५१ रु. प्रदान करनेवाले :

श्री हेमांशु अवलनकर, देवलाली ० श्री प्रशान्त चानेकर, यवतमाल ० श्रीमती गेंदीदेवी ध.प. श्री हीरालालजी पहाड़िया, कुचामनसिटी ० श्रीमती नलिनी प्रफुल्लभाई दो[illegible], बम्बई ० श्री विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई ० श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज ० श्रीमती [illegible] कान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर ० प्रो. कृष्णाराव ए. गोसावी, औरंगाबाद ० श्री माँगीलाल अर्जुनलालजी छाबड़ा इन्दौर ० ब्र. हीरालाल खुशालचन्द दोशी, माण्डले ० श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, खतौली ० ब्र. श्रीचन्द सुन्दरलालजी जैन, सोनगढ़ ० [illegible] विम[illegible] चन्दजी जैन, 'नीरू केमिकल्स' दिल्ली ० श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, [illegible]नपुर ० श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपतसिटी

२०१ रु. प्रदान करनेवाले :

श्रीमती सुशीलाबाई ध.प. श्री जवाहरलालजी जैन, विदिशा ० श्रीमती सुशीलाबाई ध.प. श्री नन्दनकुमारजी सिंघई, इन्दौर ० श्रीमती राजकुमारी गोधा ध.प. [illegible] कोमल[illegible]जी गोधा, जयपुर ० श्रीमती आशाकुमारी ध.प. श्री प्रेमचन्दजी बड़जात्या, [illegible] ० श्री सुरेशचन्द, सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर ० श्रीमती पानादेवी सेठी ध.प. श्री मोह[illegible] सेठी, गोहाटी ० श्रीमती इन्द्रमणी देवी ध.प. स्व. आनन्दीलालजी, रामगढ़ केन्ट ० [illegible] ीदेवी ध.प श्री लक्ष्मीनारायण रारा, शिवसागर ० श्री हजारीलाल फूलचन्दजी [illegible]

१५१ रु. प्रदान करनेवाले : श्रीमती कमलादेवी, जयपुर

१११ रु. प्रदान करनेवाले : श्री जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी, बम्बई

१०१ रु. प्रदान करनेवाले : श्री जयकुमारजी बाकलीवाल, नान्देड़ ० गुप्तदान हस्ते - श्री मोहनलालजी छाबड़ा, रतलाम ० चौधरी फूलचन्दजी जैन द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी, बम्बई ०

२६,६८०.००

१. समयसार गाथा ११६ से १२०

अब आगामी १० गाथाओं में सयुक्ति यह समझाते हैं कि जीव और पुद्गल – दोनों ही पदार्थों में परिणामशक्ति होने से वे स्वयं ही परिणमनशील हैं, उन्हें स्वयं के परिणमन में पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है।

प्रथम गाथा ११६ से १२० तक सांख्यमतानुयायी शिष्य को ध्यान में रखकर पुद्गलद्रव्य को परिणामस्वभावी सिद्ध करते हैं। गाथाएं इसप्रकार हैं –

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६ ॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ ११७ ॥
जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥ ११८ ॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥ १२० ॥

यदि स्वयं ही कर्मभाव से परिणत न हो ना बंधे ही ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा कर्ममय पुद्गल दरव ॥ ११६ ॥
कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ परिणमित होंगी नहीं ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ ११७ ॥
यदि परिणमावे जीव पुद्गल दरव को कर्मत्व में ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ ११८ ॥
यदि स्वयं ही परिणमें वे पुद्गल दरव कर्मत्व में ।
मिथ्या रही यह बात उनको परिणमावे आतमा ॥ ११९ ॥
जड़कर्म परिणत जिसतरह पुद्गल दरव ही कर्म है ।
जड़ ज्ञान-आवरणादि परिणत ज्ञान-आवरणादि हैं ॥ १२० ॥

'यह पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं नहीं बंधा और कर्मभाव से स्वयं परिणमित नहीं हुआ' - यदि ऐसा माना जाये तो वह पुद्गल द्रव्य अपरिणामी सिद्ध होता है और कार्माणवर्गणाएँ कर्मभाव से परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

यदि ऐसा माना जाय कि जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मभाव से परिणमाता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमती हुई उन कार्माणवर्गणाओं को चेतन आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है ?

यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभाव से परिणमन करता है तो जीव कर्म (पुद्गलद्रव्य) को कर्मरूप परिणमन कराता है, यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अतः ऐसा जानो कि जिसप्रकार नियम से कर्मरूप (कर्त्ता के कार्यरूप) परिणमित पुद्गलद्रव्य कर्म ही है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है।

उक्त गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि अब सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द का शिष्य होकर कोई व्यक्ति सांख्यमतानुयायी कैसे हो सकता है; क्योंकि जो सांख्यमत को मानने वाला होगा, वह जैनाचार्य का शिष्यत्व कैसे स्वीकार कर सकता है ?

कोई-कोई व्यक्ति जैनधर्म की आस्था वाले होकर भी निश्चयनय के पक्ष को सुनकर उसके एकान्त में चढ़ जाते हैं और वस्तु के परिणमनस्वभाव की उपेक्षा कर उसे सर्वथा अपरिणामी ही मानने लगते हैं। वे प्रगटरूप से तो जैन ही रहते हैं, पर उनकी अन्तरमान्यता सांख्यों जैसी हो जाती है। ऐसे लोगों को ही यहाँ सांख्यमतानुयायी शिष्य कहकर संबोधित किया है।

इन गाथाओं में सयुक्ति यह सिद्ध किया गया है कि पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, उसे अपने परिणमन में पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं अबद्ध रहे और स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित न हो तो वह अपरिणामी सिद्ध होगा। ऐसा होने पर संसार का अभाव सिद्ध होगा। कारण यह है कि कार्माणवर्गणा के कर्मरूप हुए बिना जीव कर्म रहित सिद्ध होगा, ऐसी स्थिति में संसार कैसा ? क्योंकि जीव की कर्मबद्ध अवस्था का नाम ही तो संसार है।

इससे बचने के लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होगा। इस तर्क पर विचार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं अपरिणमित पुद्गलद्रव्य को जीव कर्मरूप परिणमाता है कि स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्य को ?

स्वयं अपरिणमित पदार्थ को दूसरे के द्वारा परिणमित कराना शक्य नहीं है; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।

तथा स्वयं परिणमित होने वाले पदार्थ को अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इसप्रकार दोनों ही पक्षों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप परिणमाता है। अतः यही ठीक है कि पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणामस्वभावी हो।

ऐसी स्थिति में जिसप्रकार घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है, उसीप्रकार जड़स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।"

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई है कि कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य अपने परिणमनस्वभाव के कारण ही कर्मरूप परिणमित होता है।

आगामी कलश में भी इसी बात को स्पष्ट किया गया है, जो इसप्रकार है –

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४॥

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ।। ६४।।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणामशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होने पर पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया गया है –

(दोहा)

पुदगल परिनामी दरव, सदा परिनवै सोइ ।
यातैं पुदगल करम कौ, पुदगल करता होइ ।।

इन गाथाओं की टीका लिखते समय आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में लगभग इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया है। हाँ, एक बात, जो तात्पर्यवृत्ति में सहज ही आगई है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उसमें कहा गया है कि जब कोई भी महत्त्वपूर्ण बात कही जावे तो उसका अर्थ पाँच प्रकार से किया जाना चाहिए। उसका शब्दार्थ बताया जाना चाहिए, वह कौन-से नय का कथन है – यह बताना चाहिए, वह बात किस मत के सन्दर्भ कही गई है – यह बताना चाहिए। उस बात के समर्थक आगम को प्रस्तुत करना भी जरूरी है और उसका भावार्थ क्या है – यह बताना भी आवश्यक है। ध्यान रहे भावार्थ में हेयोपादेय का व्याख्यान किया जाता है।

जो लोग अति महत्त्वपूर्ण बातों में भी आगम और नयों की उपेक्षा करना चाहते हैं और भावार्थ में चाहे जो कुछ लिख देना अपना अधिकार समझते हैं; उन लोगों को आचार्य जयसेन के उक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए। •

स्वयं से उद्घाटित सत्य जितना लाभदायक होता है, उतना दूसरों के द्वारा उद्घाटित नहीं। **– आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ६८**

समयसार गाथा १२१ से १२५

११६ से १२० गाथा तक पाँच गाथाओं में जो बात पुद्गल के बारे में कही गई है, वही बात आगामी पाँच गाथाओं में जीव के बारे में कही जा रही है; जो इसप्रकार है –

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥ १२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२॥
पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥ १२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणवजुत्तो माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १२५॥

यदि स्वयं ही ना बंधे अर क्रोधादिमय परिणत न हो ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा जीव तेरे मत विषैं ॥ १२१॥
स्वयं ही क्रोधादि में यदि जीव ना हो परिणमित ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ १२२॥
यदि परिणमावे कर्मजड़ क्रोधादि में इस जीव को ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ १२३॥
यदि स्वयं ही क्रोधादि में परिणमित हो यह आतमा ।
मिथ्या रही यह बात उसको परिणमावे कर्म जड़ ॥ १२४॥
क्रोधोपयोगी क्रोध है मानोपयोगी मान है ।
मायोपयोगी माया है लोभोपयोगी लोभ है ॥ १२५॥

'यह जीव कर्म में स्वयं नहीं बंधता और क्रोधादिभाव में स्वयमेव नहीं परिणमता' – यदि ऐसा तेरा मत है तो यह जीव द्रव्य अपरिणामी सिद्ध होगा। जीव द्रव्य स्वयं क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

यदि ऐसा माना जाय कि क्रोधरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमते हुए जीव को क्रोधकर्म, क्रोधरूप कैसे परिणमा सकता है ?

तथा यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा स्वयं ही क्रोधभाव रूप से परिणमता है तो फिर – क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमाता है – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अतः यह मानना ही ठीक है कि क्रोध में उपयुक्त आत्मा क्रोध ही है, मान में उपयुक्त आत्मा मान ही है और माया में उपयुक्त आत्मा माया ही है और लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ ही है।

उक्त गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि जीव स्वयं ही अपने परिणामों का कर्ता है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां जीव को क्रोधादि भावों का कर्ता बताया गया है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यदि जीव कर्म में स्वयं न बंधता हुआ क्रोधादिभावों में स्वयमेव ही परिणमित न होता हो तो वह वस्तुतः अपरिणामी ही सिद्ध होगा और ऐसा होने से संसार का अभाव सिद्ध होगा।

इससे बचने के लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय क्रोधादिरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित करता है, इस कारण संसार का अभाव नहीं होगा।

इस तर्क पर विचार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्रोधादिरूप पुद्गल कर्म स्वयं अपरिणमते हुए जीव को क्रोधादिरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए जीव को ?

स्वयं अपरिणमित पदार्थ को दूसरे के द्वारा परिणमित कराना शक्य नहीं है; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।

तथा स्वयं परिणमित होने वाले पदार्थ को अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इसप्रकार दोनों ही पक्षों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि क्रोधादिरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित कराता है। अतः यही ठीक है कि जीव परिणमनस्वभाववाला स्वयं ही हो। ऐसी स्थिति में जिसप्रकार गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है; उसीप्रकार अज्ञानस्वभावयुक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है, ऐसा जीव स्वयं ही क्रोधादि है।

इसप्रकार जीव का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।"

उक्त सम्पूर्ण कथन में न केवल यह कहा है कि यह आत्मा स्वयं क्रोधादिभाव रूप परिणमित होता है, अपितु यह भी कहा है कि क्रोधादिरूप से परिणमित आत्मा स्वयं क्रोध ही है।

यहाँ आपको ऐसा लग सकता है कि आत्मा क्रोध कैसे हो सकता है ? पर बात यह है कि जिस नय से यहाँ आत्मा को क्रोधादि का कर्त्ता कहा जा रहा है, उसी नय से उसे क्रोध भी कहा जा सकता है; क्योंकि एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व एक नय के ही विषय बनते हैं। तथा जिस नय से आत्मा को क्रोध कहना संभव नहीं है, उस नय से उसे क्रोधादि का कर्त्ता कहना भी सम्भव नहीं है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा अपनी स्वभाविक परिमाणशक्ति के कारण ही क्रोधादिरूप परिणमित होता है, अन्य द्रव्य के कारण नहीं है।

इसी बात को आगामी कलश में व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है-

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥ ६५॥

(हरिगीत)

आत्मा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥ ६५॥

इसप्रकार जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध होने पर जीव अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्ता होता है।

पण्डित श्री बनारसीदासजी ने उक्त छन्द का भावानुवाद समयसारनाटक में इसप्रकार किया है –

(दोहा)

जीव चेतना संजुगत सदा पूरण सब ठौर ।
तातैं चेतनभाव कौ करता जीव न और ॥

ज्ञान-दर्शन चेतना से युक्त यह जीव सदा ही सर्वांग परिपूर्ण वस्तु है। इसकारण चेतनभावों का कर्त्ता जीव ही है; अन्य कोई नहीं।

इसप्रकार विगत १० गाथाओं २ कलशों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई कि पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता पुद्गलद्रव्य है और चेतनभावों का कर्त्ता जीव है।

प्रश्न – इन्हीं गाथाओं का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य जयसेन तो लिखते हैं कि जीव अपनी स्वभावभूत परिणामशक्ति के कारण क्रोधादिभावों का उपादानकर्त्ता है। इसका क्या आशय है ?

उत्तर – यही आशय है कि क्रोधादिभावों का वास्तविक कर्त्ता आत्मा ही है; क्योंकि उपादानकर्त्ता ही वास्तविक कर्त्ता होता है। क्रोधादिभावों में द्रव्यकर्म का उदय तो मात्र निमित्त है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो आचार्य अमृतचन्द्र ने ऐसा क्यों नहीं लिखा है?

उत्तर – आचार्य अमृतचन्द्र ने भी घट की कर्त्ता मिट्टी और गरुड़ के ध्यान में परिणत मंत्र साधक का उदाहरण देकर उपादानकर्त्ता की ओर ही संकेत किया है।

प्रत्येक पदार्थ अपनी उपादानगत योग्यता के कारण ही परिणमित होता है, पर पदार्थ तो उसके परिणमन में निमित्तमात्र ही होते हैं। वे उसे परिणमाते नहीं हैं। यही बात इन गाथाओं और कलशों में स्पष्ट की गई है। तात्पर्य यह है कि पदार्थों का परिणमन उनकी विकृति का सूचक नहीं है, अपितु उनकी स्वभावगत योग्यता का परिणाम है, उनकी परिणामशक्ति का कार्य है।

देखो, यहाँ टीका में दो बातें बहुत साफ-साफ कही गई हैं -

(१) जिस कार्य को करने की शक्ति स्वयं में न हो तो अन्य के द्वारा वह शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती।

(२) स्वयं का कार्य करने में शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इन दोनों सिद्धान्तों के माध्यम से आचार्य यह बात साफ कर देना चाहते हैं कि कार्य परिणामशक्तिरूप उपादान से ही होता है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार इसप्रकार हैं -

"अब आचार्यदेव कहते हैं कि जीव अपने जिन भावों को करता है, उनका कर्त्ता वह स्वयं होता है। स्वयं परिणमन करता हुआ जीव अपने जिन परिणामों को करता है, उन परिणामों का कर्त्ता वह स्वयं होता है। चाहे वे परिणाम मिथ्यात्व व राग-द्वेष के हों या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के हों; उन परिणामों को जीव स्वयं करता है और स्वयं ही वह अपने परिणामों का कर्त्ता है। अपने परिणमन में कोई अन्य का हस्तक्षेप नहीं है और अन्य किसी के परिणाम को वह स्वयं करता भी नहीं है।

अज्ञानी अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्त्ता होता है तथा ज्ञानी ज्ञानभाव से ज्ञान का कर्त्ता होता है। जड़ परमाणुओं का या जड़कर्मों का कर्त्ता ज्ञानी व अज्ञानी कोई नहीं है। जड़कर्म तो स्वयं अपनी सामर्थ्य से परिणमन करते हैं तथा जीव भी स्वयं अपनी सामर्थ्य से परिणमता है।

मिथ्यात्व के जो भाव होते हैं, वे स्वयं अपनी योग्यता से अपने कारण होते हैं, किसी कुगुरु के कारण से नहीं। इसीतरह सम्यक्त्व के परिणाम भी स्वयं से सहज होते हैं, किसी सुगुरु के कारण नहीं। निमित्तादि पर कारणों से किसी में कोई भी कार्य कभी भी नहीं होता है।

अपनी परिणमनशक्ति से ही अपने में अपना कार्य होता है, पर से नहीं। भाई ! यदि यह एक सिद्धान्त ही अच्छी तरह यथार्थ समझ में आ जावे, तो सर्व समाधान हो जायें। यह ऐसी अद्भुत बात है।

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। एक द्रव्य की पर्याय कोई अन्य द्रव्य नहीं कर सकता। जीव में स्वतः निर्विघ्न परिणमनशक्ति है। तात्पर्य यह है कि जीव की परिणमनशक्ति किसी अन्य द्रव्य के आश्रित नहीं है। जब जीव निर्मल या मलिनभाव से परिणमित होता है, तब उसकी निर्मल या मलिन पर्याय स्वयं से होती है, पर से या कर्म से नहीं; उसीप्रकार जब कोई भी परमाणु पलटता है, तो वह भी अपनी परिणमनशक्ति से ही पलटता है, आत्मा से नहीं। प्रत्येक पदार्थ में अनादि-अनन्त परिणमनस्वभाव है; इसकारण प्रतिसमय वह स्वयं से परिणमता है, पर से नहीं - ऐसी ही वस्तुस्थिति है।[१]"

इन गाथाओं के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में तीन गाथायें आती हैं, जो आत्मख्याति में नहीं हैं। वे गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

जो साधु बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध जानता है, अनुभव करता है; उस निसंग साधु को परमार्थ के जानने वाले सर्वज्ञ परमात्मा या ज्ञानीजन साधु कहते हैं।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

जो परमसाधु समस्त चेतन-अचेतन एवं शुभाशुभ परद्रव्यों में मोह छोड़कर ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानते हैं, परद्रव्यों से भिन्न अनुभव करते हैं; उसे परमार्थ को जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा या ज्ञानीजन जितमोह साधु कहते हैं।

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २४२-२४३

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त आचार्य जयसेन मोह पद को बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभपरिणाम, अशुभपरिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन पद रखकर २० सूत्र बनाने का आदेश देते हैं। तथा यह भी लिखते हैं कि इसप्रकार अपने आत्मस्वभाव से भिन्न असंख्यातलोकप्रमाण विभावभाव हैं। – ऐसा जानना चाहिए।

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥

जो योगीन्द्र शुभोपयोगरूप धर्म परिणाम को, पुण्य को छोड़कर ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित अनुभव करते हैं; उन्हें परमार्थ के जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान या ज्ञानीजन व्यवहार धर्मरूप पुण्य परिग्रह से रहित साधु कहते हैं।

उक्त गाथाओं पर गहराई से दृष्टिपात करते हैं तो निम्नांकित बातें विशेष ख्याल में आती हैं –

(१) इन तीन गाथाओं में मध्य की गाथा ३२वीं गाथा के समान ही है; मात्र अन्तर इतना ही है कि उसमें समागत '**जिणित्ता**' पद के स्थान पर इसमें '**मुइत्ता**' पद आया है। **जिणित्ता** का अर्थ जीतकर होता है और **मुइत्ता** का अर्थ छोड़कर होता है।

(२) यद्यपि '**परमट्ठवियाणया विंति**' पद तीनों ही गाथाओं में एक-सा है; तथापि तात्पर्यवृत्ति में प्रथम गाथा में उसका अर्थ गणधरदेव और दूसरी गाथा में तीर्थंकरदेव तथा तीसरी गाथा में प्रत्यक्षज्ञानी अर्थ किया है।

चूँकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी से लेकर सर्वज्ञ परमात्मा तक सभी लोग परमार्थ के ज्ञाता हैं; अतः मैंने इसका अर्थ तीर्थंकरदेव या ज्ञानीजन किया है।

(३) तीसरी गाथा ३७वीं गाथा से मिलती-जुलती है; तथापि ३७वीं गाथा में 'धम्म' पद का प्रयोग धर्मद्रव्य के अर्थ में है और यहाँ पुण्यभाव के अर्थ में 'धम्म' पद का प्रयोग है।

(४) प्रथम गाथा में 'शुद्ध' पद का अर्थ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित किया और तीसरी गाथा में शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पहली गाथा में संग (परिग्रह) को छोड़ने की बात है और तीसरी गाथा में पुण्यभाव को छोड़ने की बात है। संग में बाह्य पदार्थ और रागादिविकार – सभी आ जाते हैं तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म में भी सभी बाह्य परिग्रह तथा रागादि भावरूप अंतरंग परिग्रह – ये सभी आ जाते हैं।

(५) १२५वीं गाथा में यह कहा था कि क्रोध में उपयुक्त आत्मा क्रोध है, मान में उपयुक्त आत्मा मान है, माया में उपयुक्त आत्मा माया है और लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ है।

१२६वीं गाथा में यह कहने वाले हैं कि जो आत्मा जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्त्ता होता है और ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय।

१२५वीं गाथा में क्रोधादिरूप अज्ञानमयभाव की बात तो आ गई थी, पर ज्ञानमयभावों की बात नहीं आई थी। अत: उक्त तीन गाथाओं में ज्ञानमय भावों की चर्चा की गई है। •

देख ! देख !! देख !!!

अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दों में नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्दजाल और वाक्‌विलास से परे है। यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है। यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड है और आनन्द का कन्द है। अत: समस्त परपदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठने वाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झाँक! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख! देख!! देख!!!

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७६

समयसार गाथा १२६-१२७

६५वें कलश के बाद तत्काल आने वाली गाथा १२६ की उत्थानिका आत्मख्याति में मात्र '**तथाहि**' शब्द के रूप में ही दी गई है। '**तथाहि**' शब्द का आशय ही यह है कि जो बात अभी-अभी कही गई है, अब उसी को विस्तार से समझाते हैं। इसका आशय यह है कि ६५वें कलश में समागतभाव को ही आगामी गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट किया जायगा।

६५वें कलश में यह कहा गया है कि जीव अपनी स्वभावभूत परिणामशक्ति के कारण जिस-जिस भाव रूप परिणमित होता है, वह उन-उन भावों का कर्त्ता होता है। अतः अब आगामी गाथाओं में उसी भाव को स्पष्ट कर रहे हैं।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६॥
अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमयो णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥ १२७॥

जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने।
ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय ॥ १२६॥
अज्ञानमय हैं भाव इससे अज्ञ कर्ता कर्म का।
बस ज्ञानमय हैं इसलिए ना विज्ञ कर्ता कर्म का ॥ १२७॥

आत्मा जिस भाव को करता है, वह उस भावरूप कर्म का कर्त्ता होता है। ज्ञानी के वे भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय। अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होने से अज्ञानी कर्मों को करता है और ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होने से ज्ञानी कर्मों को नहीं करता।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है और अपने जिस भाव को करता है, कर्मपने को प्राप्त उस भाव का कर्त्ता होता है। तात्पर्य यह

है कि वह भाव आत्मा का कर्म है और आत्मा उस भाव का कर्त्ता है। वह भाव भी ज्ञानी के ज्ञानमय ही होता है; क्योंकि ज्ञानी को स्वपर के विवेक से सर्व परभावों से भिन्न आत्मा की ख्याति सम्यक्प्रकार से अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है। तथा वह भाव अज्ञानी के अज्ञानमय ही होता है; क्योंकि उसे सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से परपदार्थों से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है।

सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से, पर से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त होने से; अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही होते हैं। ऐसी स्थिति में स्वपर के एकत्व के अभ्यास के कारण ज्ञानमात्रभाव से भ्रष्ट और राग-द्वेष भाव से एकाकार होकर अहंकार में प्रवर्त्तमान 'मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, मैं राग-द्वेष करता हूँ' – इसप्रकार मानता हुआ अज्ञानी रागी-द्वेषी होता है, अज्ञानमय भाव के कारण स्वयं को राग-द्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।

ज्ञानी के तो सम्यक्प्रकार से स्वपर के विवेक के द्वारा पर से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से ज्ञानमय भाव ही होता है। ऐसी स्थिति में स्वपर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र निजभाव में भलीप्रकार स्थित, पररूप राग-द्वेषादि भावों से भिन्नत्व के कारण अहंकार से निवृत्त ज्ञानी मात्र जानता ही है, रागी-द्वेषी नहीं होता, राग-द्वेष नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानमय भाव के कारण ज्ञानी स्वयं को राग-द्वेष रूप न करता हुआ कर्मों को नहीं करता।''

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं –

''ज्ञानी को स्वपर का भेदज्ञान हुआ है; इसलिए उसके अपने ज्ञानमयभाव का ही कर्त्तृत्व है और अज्ञानी को स्वपर का भेदज्ञान नहीं है; इसलिए उसके अज्ञानमय भाव का ही कर्त्तृत्व है।

इस आत्मा के क्रोधादिक मोहनीय कर्म की प्रकृति (राग-द्वेष) का उदय आने पर अपने उपयोग में उसका राग-द्वेष रूप मलिन स्वाद आता है। अज्ञानी

स्वपर का भेदज्ञान न होने से यह मानता है कि 'यह राग-द्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है – वही मैं हूँ।' इसप्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि करता हुआ अज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी करता है; इसलिए वह कर्मों को करता है। इसप्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध होता है।

ज्ञानी के भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि 'ज्ञानभाव शुद्ध उपयोग है, वही मेरा स्वरूप है – वही मैं हूँ; राग-द्वेष कर्मों का रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं है।' इसप्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है, इसलिए वह कर्मों को नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानमयभाव से कर्मबन्ध नहीं होता।''

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं –

''ज्ञानी का ज्ञानमय परिणाम है, इसका अर्थ भी यही है कि ज्ञानी का वीतरागतामय परिणाम है। उसकी दृष्टि वीतरागी हुई है, ज्ञान वीतरागी हुआ है एवं आचरण भी वीतरागी हुआ है। ज्ञानी के सर्वभाव वीतरागी है, इसकारण ज्ञानी वीतरागभाव का ही कर्त्ता है और वीतरागभाव उसका कर्म है।[१]

परन्तु जो व्यवहाररत्नत्रय का राग होता है, ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। व्यवहाररत्नत्रय का जो राग होता है, उसे ज्ञानी मात्र जानता है, किन्तु वह राग ज्ञानी का कार्य नहीं है।[२]

प्रश्न – ज्ञानी को यथापदवी राग तो आता है न ?

उत्तर – हाँ, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, व्रत, दानादि का राग ज्ञानी को भी भूमिकानुसार आता है, परन्तु ज्ञानभाव से परिणमित ज्ञानी के ज्ञान परिणमन से वह राग भिन्न रह जाता है। 'अपना चैतन्यस्वरूप राग से भिन्न है' – ऐसा भेदज्ञान प्रगट हो जाने से ज्ञानी को जो शुभाशुभ राग आता है, वह उसका ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं बनता। ज्ञानी को राग की रुचि एवं उसका स्वामित्व नहीं है। राग के स्वामीपने से नहीं परिणमता ज्ञानी मात्र अपने शुद्ध

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २५०

२. वही, पृष्ठ २५०

परिणाम का ही कर्त्ता होता है। ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होते हैं, राग ज्ञानी का कर्तव्य (कार्य) नहीं है।[१]

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन अनन्तगुणमय पवित्रधाम प्रभु स्वयं 'स्व' है और जो दया-दान, भक्ति आदि के विकल्प उठे, वे 'पर' हैं। अज्ञानी को ऐसा निर्मल भेदज्ञान नहीं होता। स्वपर का भेदज्ञान नहीं होने से वह अज्ञानमय भावों का कर्त्ता होता है, अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के जो विकल्प उठते हैं, उनका वह कर्त्ता होता है।[२]"

इसप्रकार इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया कि ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञानभावों का कर्त्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानभावों का कर्त्ता होता है।

इन गाथाओं के बाद जो कलश आता है, उसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि अज्ञानी अज्ञानभावों का ही एवं ज्ञानी आत्मा ज्ञानभावों का ही कर्त्ता क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जायगा। वह कलश मूलतः इसप्रकार है –

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥ ६६ ॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी है ।
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी है ॥
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है ।
तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है ॥ ६६ ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमयभाव ही क्यों होते हैं, उसके अज्ञानमयभाव क्यों नहीं होते ? इसीप्रकार अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय क्यों होते हैं, उसके ज्ञानमयभाव क्यों नहीं होते ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २५४
२. वही, पृष्ठ २५४

कलश के अर्थ पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि इस प्रश्न में क्या दम है कि ज्ञानी के भाव ज्ञानमय और अज्ञानी के भाव अज्ञानमय क्यों होते हैं ? पर गहराई में जाते हैं तो यह भाव भासित होता है कि दया-दान-भक्ति आदि के शुभभाव तथा विषय-भोगादि के अशुभभाव यदि ज्ञानी के हों तो उन्हें ज्ञानमयभाव कहना और ये ही भाव यदि अज्ञानी के हों तो इन्हीं भावों को अज्ञानमय कहना कहाँ तक उचित है ? अज्ञानी के उक्त भावों को अज्ञानमय कहकर बंध के कारण बताना और ज्ञानी के उक्त भावों को ही ज्ञानमय कहकर वे बंध के कारण नहीं है – ऐसा कहना क्या न्याय संगत है ? वास्तविक प्रश्न यह है।

पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में इस कलश का अर्थ करते हुए इसप्रकार के संकेत दिये हैं। यही कारण है कि बनारसीदासजी ने इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया है –

(अडिल्ल छन्द)

ग्यानवंत कौ भोग निरजरा हेतु है,
अग्यानी कौ भोग बंधफल देतु है ॥
यह अचरज की बात हिये नहिं आवही,
पूछै कोऊ सिष्य गुरू समझावही ॥

'ज्ञानी के भोग तो निर्जरा के कारण हैं और अज्ञानी के लिए वही भोग बंध के कारण हैं' – यह बात तो आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है। यह बात मेरे हृदय में नहीं बैठती है, इसमें मुझे अन्याय भासित होता है; क्योंकि जो भाव अज्ञानी के लिए बंध के कारण हैं, वे ही भाव ज्ञानी के लिए निर्जरा के कारण कैसे हो सकते हैं ?

शिष्य द्वारा इसप्रकार का प्रशन उपस्थित करने पर गुरुजी उसे समझाते हैं। इस प्रशन का उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जा रहा है। •

समयसार गाथा १२८ से १२९

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥ १२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १२९॥

ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय ।
बस इसलिए सद्ज्ञानियों के भाव हों सद्ज्ञानमय ॥ १२८॥
अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय ।
बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ॥ १२९॥

क्योंकि ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है; इसलिए ज्ञानियों के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं।

क्योंकि अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

"वास्तव में अज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सभी अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, अज्ञानमय ही होता है; इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं और ज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, ज्ञानमय ही होता है; इसलिए ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में '**उपादानकारण के समान ही कार्य होता है**' – इस आगमवचन का स्मरण दिलाते हुए यह समझाते हैं कि ज्ञानमयभावों से ज्ञानमयभाव ही उत्पन्न होते हैं, निश्चयरत्नत्रयरूप ज्ञानभावों से मोक्षपर्यायरूप ज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है तथा 'जौ का बीज बोने पर जिसप्रकार बासमती चावल पैदा नहीं होते' – इस उदाहरण से भी वे अपनी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि अज्ञानमयभावों से ज्ञानमय भाव उत्पन्न नहीं हो सकते।

इन गाथाओं की टीका के बाद आचार्य अमृतचन्द्र जो छन्द (कलश) लिखते हैं, उसमें भी इसी भाव को दुहराया गया है, इसी भाव की पुष्टि की गई है। वह छन्द इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं ।
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं ॥
उपादान के ही समान कारज होते हैं ॥
जौ बोने पर जौ ही तो पैदा होते हैं ॥ ६७॥

ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञान से रचित होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञान से रचित होते हैं।

इन गाथाओं और इस कलश का भाव यह है कि चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती ज्ञानी जीवों के चारित्र की कमजोरी से जो भूमिकानुसार रागादिभावों का परिणमन पाया जाता है, वह परिणमन भी ज्ञानमयभाव ही कहलाता है; क्योंकि ज्ञानी जीव के उन रागादि के होने पर भी अनन्तसंसार को करनेवाला मिथ्यात्वादि का बंध नहीं होता। चारित्रमोहोदय संबंधी जो भी बंध होता है, वह अत्यन्त अल्प होता है, अनन्त संसार का कारण नहीं होता। इसकारण यहाँ उसे बंध में गिनते ही नहीं हैं।

इन बातों का बहुत-कुछ स्पष्टीकरण पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में इस कलश के भावार्थ में लिखा है, जो इसप्रकार है –

"भावार्थ इसप्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव की और मिथ्यादृष्टि जीव की क्रिया तो एक-सी है, क्रियासम्बन्धी विषय-कषाय भी एक-से है; परन्तु द्रव्य का परिणमन भेद है।

विवरण – सम्यग्दृष्टि का द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमा है, इसलिये जो कोई परिणाम बुद्धिपूर्वक अनुभवरूप है अथवा विचाररूप है अथवा व्रत-क्रियारूप

है अथवा भोगाभिलाषरूप है अथवा चारित्रमोह के उदय क्रोध, मान, माया, लोभरूप है; वह सभी परिणाम ज्ञानजाति में घटता है; कारण कि जो कोई परिणाम है, वह संवर-निर्जरा का कारण है, ऐसा ही कोई द्रव्यपरिणमन का विशेष है।

मिथ्यादृष्टि का द्रव्य अशुद्धरूप परिणमा है; इसलिये मिथ्यादृष्टि का परिणाम अनुभवरूप तो होता ही नहीं। इसकारण सूत्रसिद्धान्त के पाठरूप है अथवा व्रत-तपश्चरणरूप है अथवा दान, पूजा, दया, शीलरूप है अथवा भोगाभिलाषरूप है अथवा क्रोध, मान, माया, लोभरूप है – ऐसा समस्त परिणाम अज्ञानजाति का है; क्योंकि बन्ध का कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।

द्रव्य का ऐसा ही परिणमनविशेष है।''

उक्त कथन में पाण्डे राजमलजी ज्ञानी के क्रोधादिभावों एवं भोगाभिलाषा को भी ज्ञानभाव में घटित कर रहे हैं और अज्ञानी के व्रत-तपश्चरण एवं दान-पूजादिभावों को अज्ञानभावों में घटित कर रहे हैं।

पाण्डे राजमलजी के उक्त कथन को आधार बनाकर पंडित कविवर बनारसीदासजी ने उक्त छन्द का भावानुवाद इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहू कौ एक खेतु है ।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसे एक से पै,
परिणामभेद न्यारौ-न्यारौ फलदेतु है ।।
ग्यानबंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निरजरा कौ हेतु है ।
वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप,
अंध भयो ममता सौ बंधफल लेतु है ।।

दया, दान और पूजादिक पुण्यभाव तथा विषय-कषायादिक पापभाव – दोनों ही भाव कर्मबंधरूप हैं, कर्मबंध करनेवाले हैं और दोनों भावों का उत्पत्ति

स्थान भी एक आत्मा ही है। यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही दोनों प्रकार के कर्मों को करते हुए एक-से ही दिखाई देते हैं, तथापि दोनों के परिणामों में अन्तर होने से फल में अन्तर पड़ जाता है। ज्ञानी जीव पुण्य-पाप भावों को करते तो हैं, *पर उनमें उनका उदासीन भाव रहता है। वे उनमें ममत्व धारण* नहीं करते, इसकारण उनके वे कार्य बंध के कारण न बनकर निर्जरा के कारण बन जाते हैं; किन्तु अज्ञानी मगन होकर वही कार्य करते हैं, अंध होकर उनमें ममत्व करते हैं; इसकारण बंध को प्राप्त होते हैं।

इसप्रकार इन गाथाओं में और कलश में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी संबंधी रागादिभाव तो हैं ही नहीं; किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि संबंधी जो भी रागादिभाव विद्यमान हैं, यद्यपि ज्ञानी उन रूप परिणमित होता है, तथापि उनका स्वामित्व उसके नहीं होता, उसका कर्तृत्व भी नहीं होता, इसकारण उसे तत्संबंधी बंध भी नहीं होता।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

"अज्ञानी को शुभाशुभभावों में एकत्वबुद्धि है, इसकारण उसके व्रत-तपादि के भाव भी अज्ञानमय ही हैं, जबकि ज्ञानी को राग से भिन्न निर्मलानंदस्वरूप अपने चैतन्यमय भगवान आत्मा का भान हो गया है। अतः उसे जो रागादिभाव होते हैं, उन्हें वह मात्र जानता ही है, उनका कर्त्ता नहीं बनता।

ज्ञानी उस राग संबंधी ज्ञान का कर्त्ता तो है; परन्तु उस रागभाव का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान की जाति का उल्लंघन नहीं करते; अतः उसके सभी भाव ज्ञानमय ही हैं; परन्तु अज्ञानी जो व्रत, तपादि के भाव करता है, वह उन भावों का उल्लंघन नहीं कर पाने से उसके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं

'जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि' अर्थात् अज्ञानी की दृष्टि राग पर है, इस कारण उसके रागमय परिणाम की सृष्टि होती है। धर्मीजीव की दृष्टि राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव पर है; अतः उसके ज्ञानमय परिणाम की सृष्टि होती है।

अज्ञानी को व्रत, तप, संयम, उपवास, ब्रह्मचर्य आदि के जो भाव होते हैं, वे रागमय हैं; क्योंकि उसे उनमें एकत्वबुद्धि है। इसकारण अज्ञानी के सभी

भाव अज्ञानमय हैं। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के परिणमन में जमीन-आसमान का अन्तर है।[१]"

इसप्रकार विगत कलश में जो प्रश्न उठाया गया था; उसका उत्तर इस कलश में दे दिया गया। विगत कलश में कहा था कि ज्ञानवंत के भोग निर्जरा हेतु हैं और अज्ञानी को वही भोग बंध करते हैं। इसका क्या कारण है ? इस कलश में उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि अज्ञानी का उन भोगों में एकत्व, ममत्व और कर्त्तृत्व है; इसकारण अज्ञानी को बंध होता है और ज्ञानी का उनमें एकत्व, ममत्व और कर्त्तृत्व नहीं है; इसकारण ज्ञानी को उनसे बंध नहीं होता।

इस सबका कुल मिलाकर तात्पर्य यह हुआ कि बंध का मूल कारण शुभाशुभ क्रिया नहीं; अपितु अज्ञानभाव है, मिथ्यात्वभाव है। अतः हमें इस अज्ञानभाव, मिथ्यात्वभाव से बचने का प्रयास करना चाहिए; किन्तु परपदार्थों में मुग्ध इस जगत का ध्यान इस ओर है ही नहीं। वह तो थोड़ी-बहुत शुभक्रिया और शुभभाव करके ही सन्तुष्ट है, उसी में धर्म मान रहा है।

जबतक वह अपने इस अज्ञानभाव को नहीं छोड़ेगा; मिथ्यात्वभाव को नहीं छोड़ेगा; तबतक बंध का निरोध नहीं होगा, संवर नहीं होगा, निर्जरा नहीं होगी और इनके नहीं होने से उसे मोक्ष भी नहीं होगा। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २६६-२६७

धर्म के नाम पर न तो मैं समाज को विघटित होते देख सकता हूँ और न मुझसे धर्म की कीमत पर संगठन ही होगा। मैं धर्म को कायम रखकर समाज को संगठित करूँगा और समाज को संगठित रखकर धर्म को उसके सामने प्रस्तुत करूँगा – यह मेरा संकल्प है।

– सत्य की खोज, पृष्ठ २४३

समयसार गाथा १३० से १३१

जो बात विगत गाथाओं तथा कलशों में कही गई है, अब आगामी गाथाओं में उसी बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं –

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

स्वर्णनिर्मित कुण्डलादि स्वर्णमय ही हों सदा ।
लोहनिर्मित कटक आदि लोहमय ही हों सदा ॥१३०॥
इस ही तरह अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ।
इस ही तरह सब भाव हों सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय ॥१३१॥

जिसप्रकार स्वर्णमयभाव में से स्वर्णमय कुण्डल आदि बनते हैं और लोहमय भाव में से लोहमय कड़ा आदि बनते हैं; उसीप्रकार अज्ञानियों के अनेकप्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानियों के सभी ज्ञानमय भाव होते हैं।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार पुद्गल के स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी '**कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं**' – इस नियम के अनुसार स्वर्णपदार्थ से स्वर्णमय ही कुण्डलादि बनते हैं, लौहमय कड़ा आदि नहीं बनते; क्योंकि स्वर्ण स्वर्णजाति का उल्लंघन नहीं करता। तथा लोह पदार्थ से लोहमय कड़ा आदि बनते हैं, स्वर्णमय कुण्डलादि नहीं; क्योंकि लोह लोहजाति का उल्लंघन नहीं करता।

इसीप्रकार जीव के स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी '**कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं**' – इस नियम के अनुसार अज्ञानी के अनेकप्रकार के

अज्ञानमय ही भाव होते हैं, ज्ञानमय भाव नहीं होते; क्योंकि अज्ञानमयभाव अज्ञानजाति का उल्लंघन नहीं करते। तथा ज्ञानमयभाववाले ज्ञानी के अनेकप्रकार के ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय भाव नहीं होते; क्योंकि ज्ञानमयभाव ज्ञानजाति का उल्लंघन नहीं करते।"

इस टीका में यह बताया गया है कि यद्यपि लोहा और सोना – दोनों ही पुद्गल हैं और पुद्गल स्वयं परिणमनस्वभाववाला है; तथापि सोने से सोने के ही आभूषण बनते हैं और लोहे से लोहे के ही; क्योंकि **उपादान कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं** – यह नियम है। अतः उपादान कारण के रूप में यदि सोना है तो उससे बननेवाले सभी आभूषण सोनेमय ही होंगे, सोने के ही होंगे। इसीप्रकार यदि उपादान कारण के रूप में लोहा है तो उससे बने सभी औजार लोहमय ही होंगे।

इसीप्रकार यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी – दोनों ही जीव हैं और जीव स्वयं परिणामस्वभाववाला है; तथापि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं; क्योंकि **उपादान कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं** – यह नियम है। अतः उपादान कारण के रूप में यदि ज्ञानी आत्मा है तो उससे होनेवाले सभी भाव ज्ञानमय ही होंगे और यदि उपादान कारण के रूप में अज्ञानी आत्मा है तो उससे होनेवाले सभी भाव अज्ञानमय ही होंगे।

इसप्रकार इस कथन से यह प्रतिफलित हुआ कि यद्यपि सामान्य रूप से आत्मा अपने ज्ञानमय और अज्ञानमय – सभी भावों का कर्त्ता कहा गया है; क्योंकि वे उसके ही भाव हैं, उसका ही परिणमन है; तथापि जब विशेष भेद करके देखते हैं तो ज्ञानी आत्मा ज्ञानभावों का कर्त्ता है और अज्ञानी आत्मा अज्ञानभावों का कर्त्ता है; क्योंकि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

इन गाथाओं के भाव का स्पष्टीकरण जयचंदजी छाबड़ा ने भावार्थ में इसप्रकार किया है –

"अज्ञानी के शुभाशुभभावों में आत्मबुद्धि होने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोह के उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं; तथापि उसके उन भावों में आत्मबुद्धि नहीं है, वह उन्हें पर के निमित्त से उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। वह भविष्य का ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणमता नहीं है। यद्यपि उदय की बलबत्ता से परिणमता है; तथापि ज्ञातृत्व का उल्लंघन करके परिणमता नहीं है, ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है; इसलिए वह क्रोधादिक भावों का अन्य ज्ञेयों की भाँति ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। इसप्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।"

प्रश्न – 'उदय की बलवत्ता से परिणमता है।' - इसका क्या आशय है ? क्या कर्म उसे जबरदस्ती रागादिरूप परिणमाता है ?

उत्तर – इस प्रश्न का उत्तर जयपुर से प्रकाशित समयसार की टिप्पणी में इसप्रकार दिया गया है –

"सम्यग्दृष्टि की रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्य के प्रति ही होती है, उसको कभी रागद्वेषादि भावों की रुचि नहीं होती। उसको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं; वे भाव यद्यपि उसकी स्वयं की निर्बलता से ही एवं उसके स्वयं के अपराध से ही होते हैं, फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते; इसकारण उन भावों को 'कर्म की बलबत्ता से होनेवाले भाव' कहने में आता है। इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड़ द्रव्यकर्म आत्मा के ऊपर लेशमात्र भी जोर कर सकता है; परन्तु ऐसा समझना कि विकारी भावों के होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्मा की शुद्धात्मद्रव्यरुचि में किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्रादि सम्बन्धी निर्बलता है - ऐसा आशय बतलाने के लिए ऐसा कहा है। जहाँ-जहाँ कर्म की बलवत्ता, कर्म की जबरदस्ती, कर्म का जोर इत्यादि कथन होवे; वहाँ-वहाँ ऐसा आशय समझना।"

प्रश्न – जब ज्ञानी के भी रागादि होते हैं और रागादिभाव तो अज्ञानभाव ही हैं, फिर ज्ञानी के अज्ञानमयभाव नहीं होते – यह क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – ज्ञानी उन रागादिभावों का स्वामी नहीं बनता, कर्त्ता नहीं बनता; उनका स्वामी और कर्त्ता स्वयं को नहीं मानता, उनका भी वह ज्ञाता ही रहता है और ज्ञातृत्व का भाव तो ज्ञानभाव ही है, अज्ञानभाव नहीं; इसकारण यह कहा जाता है कि ज्ञानी के अज्ञानभाव नहीं होते।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं –

"ज्ञानी ज्ञानस्वरूप से परिणमता है, ज्ञानी ज्ञान का उल्लंघन करके नहीं परिणमता। ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है। ज्ञानी को रागादि में स्वामीपना नहीं है। अशुभराग भी कदाचित् ज्ञानी को होता है; परन्तु उसे उसका भी स्वामित्व नहीं है।

ज्ञानी क्रोधादि विकारी भावों का भी ज्ञाता है, कर्त्ता नहीं है। शरीर, मन, वाणी आदि पर पदार्थ जैसे ज्ञेय हैं, जाननेलायक हैं; उसीप्रकार चारित्रमोहादिजनित अस्थिरतारूप कमजोरी से रागादि होने पर भी वे सब ज्ञानी के ज्ञेय हैं, वह उनका कर्त्ता नहीं होता; रागादिरूप परिणमन है, इस अपेक्षा से कर्त्ता कहा जाता है – यह बात जुदी है।[१]"

इसप्रकार इन गाथाओं में भी उदाहरण के माध्यम से यही सिद्ध किया गया है कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं अथवा ज्ञानी अपने ज्ञानमयभावों का कर्त्ता-भोक्ता है और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्त्ता-भोक्ता है।

अब आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलशरूपकाव्य कहते हैं, जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ ६८ ॥

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय भावभूमि में व्याप्त ।
इसकारण द्रवबंध के हेतुपने को प्राप्त ॥ ६८ ॥

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २७८

अज्ञानी अपने अज्ञानमयभावों की भूमिका में व्याप्त होकर अपने अज्ञानमय भावों के कारण द्रव्यकर्म के बंधन के हेतुत्व को प्राप्त होता है, द्रव्यकर्म के बंधन का निमित्त बनता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी के अज्ञानमयभाव ही कर्मबंधन के निमित्तकारणरूप हेतु हैं।

विगत गाथाओं में यह कहते आये हैं कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं; ज्ञानी ज्ञानमयभावों का कर्त्ता है और अज्ञानी अज्ञानमयभावों का कर्त्ता है तथा यह भी कहा गया है कि अज्ञानी को कर्मबंध होता है और ज्ञानी को कर्मबंध नहीं होता है। इसकारण यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि अज्ञानी का अज्ञानमयभावभूमि में व्याप्त होना ही उसके कर्मबंध का कारण है।

इस कलश के भाव को कलशटीकाकार ने सोदाहरण समझाया है, जिसका सार इसप्रकार है -

"जिसप्रकार कलश रूप में तो मिट्टी परिणमती है, कुम्हार का परिणाम उसका बाह्य निमित्त कारण है; परन्तु व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपिण्डरूप तो पुद्गल स्वयं परिणमता है, पुद्गलद्रव्य ही उसमें व्याप्य-व्यापकरूप है; तथापि जीव का अशुद्धचेतनारूप मोह, राग, द्वेषादि परिणाम बाह्य निमित्तकारण है, परन्तु व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है।

कोई जानेगा कि जीवद्रव्य तो शुद्ध, उपचारमात्र कर्मबन्ध का कारण होता है तो ऐसा नहीं है; क्योंकि वह स्वयं मोह-राग-द्वेष अशुद्धचेतनापरिणामरूप परिणमता है; इसलिए वह कर्म का कारण है।

द्रव्यकर्म अनेकप्रकार का है, उसका उदय भी अनेकप्रकार का है। एक कर्म ऐसा है कि जिसके उदय में शरीर होता है, एक ऐसा है कि जिसके उदय में मन, वचन, काय होता है, एक कर्म ऐसा होता है कि जिसके उदय में सुख-दु:ख होता है। ऐसे अनेकप्रकार के कर्म के उदय होने पर मिथ्यादृष्टि जीव कर्म के उदय को आपरूप अनुभवता है, इससे राग-द्वेष-मोह परिणाम होते हैं, उनके द्वारा नूतन कर्मबंध होता है। इसकारण मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्धचेतनपरिणाम का कर्त्ता है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव के शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं है, इसलिए कर्म के उदय के कार्य को आपरूप अनुभवता है।

जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि के कर्म का उदय है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि के भी है; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धस्वरूप का अनुभव है, इसकारण कर्म के उदय को कर्मजातिरूप अनुभवता है, आपको शुद्धस्वरूप अनुभवता है। इसलिए कर्म के उदय से रंजायमान नहीं होता, इसलिए मोह-राग-द्वेषरूप नहीं परिणमता है, इसलिए कर्मबंधन नहीं होता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि अशुद्धपरिणाम का कर्त्ता नहीं है।"

कलश टीका के उक्त भाव को हृदयंगम करके बनारसीदासजी ने उसे छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

(छप्पय)

ज्यौं माटी मैं कलस होन की सकति रहे ध्रुव।
दंड चक्र चीवर कुलाल बाहजि निमित्त हुव॥
त्यौं पुद्गल परवांनु पुंज वरगना भेस धरि।
ग्यानावरणादिक स्वरूप विचरंत विविध परि॥
बाहजि निमित्त बहिरातमा गहि संसै अग्यानमति।
जगमाहि अहंकृत भावसौं कामरूप ह्वै परिनमति॥

जिसप्रकार मिट्टी में घटरूप होने की शक्ति सदा विद्यमान रहती है और डंडा, चाक, धागा और कुम्हार आदि बाह्य निमित्त होते हैं; उसीप्रकार पुद्गलपरमाणुओं के पुंज कार्माणवर्गणाओं का भेष धारण करके ज्ञानावरणादि विविध रूप होकर विचरण करते हैं, तब उसमें बहिरात्मा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव बाह्य निमित्त होता है। ऐसा होने पर अज्ञानमति बहिरात्मा संशयशील होकर कर्तृत्व का अहंकार करने लगता है, इसकारण वह कर्मबंध को प्राप्त होता है।

इसप्रकार इस कलश में मात्र यही कहा गया है कि अज्ञानी जीव पुराने कर्म के उदय का लक्ष्य करके नवीन कर्मबंध के कारणरूप जो अज्ञानभाव है, उसके हेतुपने को प्राप्त होता है।

यही बात आगामी गाथाओं में विस्तार से समझाई गई है। •

समयसार गाथा १३२ से १३६

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥ १३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेई अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ १३३॥
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहण वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १३६॥

निजतत्त्व का अज्ञान ही बस उदय है अज्ञान का ।
निजतत्त्व का अश्रद्धान ही बस उदय है मिथ्यात्व का ॥ १३२॥
अविरमण का सद्भाव ही बस असंयम का उदय है ।
उपयोग की यह कलुषता ही कषायों का उदय है ॥ १३३॥
शुभ-अशुभ चेष्टा में तथा निवृत्ति में या प्रवृत्ति में ।
जो चित्त का उत्साह है, वह ही उदय है योग का ॥ १३४॥
इनके निमित्त के योग से जड़ वर्गणाएं कर्म की ।
परिणमित हों ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म में ॥ १३५॥
इसतरह वसुविध कर्म से आबद्ध जिय जब हो तभी ।
अज्ञानमय निजभाव का हो हेतु जिय जिनवर कही ॥ १३६॥

जीवों के जो अतत्त्व की उपलब्धि है, तत्त्व संबंधी अज्ञान है, वह अज्ञान का उदय है; जो तत्त्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है; जो अविरमण है, अत्याग का भाव है, वह असंयम का उदय है; जो मलिन उपयोग है, वह कषाय का उदय है और जो शुभ या अशुभ, प्रवृत्तिरूप या निवृत्तिरूप चेष्टा का उत्साह है, उसे योग का उदय जानो।

इन उदयों के हेतुभूत होने पर जो कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप से आठ प्रकार परिणमता है, वह कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव से बंधता है, तब जीव अपने अज्ञानमय परिणाम भावों का हेतु होता है।

प्रश्न : महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – इन पाँच भावों को बंध का हेतु बताया गया है।[१] यहाँ जो बताया जा रहा है, उसकी संगति तत्त्वार्थसूत्र के उक्त कथन से कैसे बैठे?

यद्यपि यहाँ इन गाथाओं में भी बंध के कारण तो पाँच ही बताये हैं; तथापि यहाँ बताये पाँच कारणों में तत्त्वार्थसूत्र में तीसरे नम्बर पर आने वाला प्रमाद नहीं है तथा यहाँ प्रथम स्थान पर उल्लिखित अज्ञान तत्त्वार्थसूत्र में बताये गये कारणों में नहीं है।

दूसरी बात यह है कि इसी समयसार शास्त्र में १०९वीं गाथा में बंध के कारण चार प्रत्यय ही बताये गये हैं, जो तत्त्वार्थसूत्र में बताये गये कारणों के समान ही हैं; परन्तु इनमें भी प्रमाद नहीं है।

अतः प्रश्न यह है कि प्रथम तो दो आचार्यों में इसप्रकार का मतभेद क्यों है ? कदाचित् दो आचार्यों में मतभिन्नता हो भी सकती है; परन्तु एक ही आचार्य ने एक स्थान पर बंध के चार कारण बताये और दूसरे स्थान पर पाँच – यह कहाँ तक उचित है ?

उत्तर : अरे भाई ! न तो यहाँ दो आचार्यों में कोई मतभेद है और न एक आचार्य ने एक ही ग्रन्थ में दो बातें कही हैं। समयसार गाथा १०९ में प्रमाद को अविरति और कषाय में गर्भित कर लिया है; क्योंकि चार कषाय, पाँच इन्द्रियों की आधीनता, चार विकथा, निद्रा और स्नेह – इनके मिश्रण का नाम ही तो प्रमाद है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड के गुणस्थानाधिकार में इसका विस्तृत विवेचन है। जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें जीवकाण्ड के गुणस्थानाधिकार का अध्ययन करना चाहिए।

---

१. तत्त्वाथर्त्रसूत्र, अध्याय ८, सूत्र – १

प्रमाद में मुख्य भाग पाँच इन्द्रियों के विषय सेवन रूप अविरति और चार कषायों का ही है; अतः कषाय और अविरति में प्रमाद को गर्भित कर लेने में कुछ भी अनुचित नहीं है तथा विशेष ध्यान आकर्षित करने के लिए पृथक् उल्लेख कर देने में भी कोई दोष नहीं है।

अब रही बात समयसार की इन गाथाओं में प्रथम स्थान पर उल्लिखित अज्ञान की बात, सो वह तो मिथ्यात्वादि चार कारणों के समुदायरूप ही है। इस बात का उल्लेख इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में है ही, जो इसप्रकार है -

"अतत्त्व की उपलब्धिरूप से अर्थात् तत्त्व के अज्ञान रूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है।

नवीन कर्मों के हेतुरूप यह अज्ञानमयभाव मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय के रूप में चार प्रकार के हैं।

तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्व का उदय है, अविरमणरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय है, कलुष उपयोगरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय है, शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापार रूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय है।

इन पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय के हेतुभूत होने पर जो पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भाव से आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होता है, तब स्वयमेव अज्ञान से स्वपर के एकत्व के अध्यास के कारण तत्त्व-अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणामभावों का हेतु होता है।"

गाथा और टीका के इसी भाव को भावार्थ में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"अज्ञानभाव के भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय पुद्गल के परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिरूप से ज्ञान में आता है। वे उदय निमित्तभूत होने पर कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव

ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीव के साथ बँधते हैं और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमता है और इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वयं ही होता है।

मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना तथा बँधना और जीव का अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमना - यह तीनों ही एक समय में ही होते हैं, सब स्वतन्त्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता।''

गाथाओं में तो अज्ञान का उदय, मिथ्यात्व का उदय, असंयम का उदय, कषाय का उदय और योग का उदय - ये पाँच प्रकार के उदय बताये हैं; परन्तु आत्मख्याति टीका में अज्ञान के उदय को मुख्य रखकर शेष चार को अज्ञान के उदय के भेद के रूप में प्ररूपित किया है। इसकारण वे चारों ही एक प्रकार से अज्ञान के ही उदय हैं। इसप्रकार अज्ञान के उदय में पाँचों ही गर्भित हो गये हैं। यही कारण है कि इन पाँचों को एक अज्ञानभाव शब्द से भी अभिहित किया जाता है।

इन पाँचों की परिभाषाएँ टीका व भावार्थ में स्पष्ट हो ही चुकी हैं। भावार्थ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अज्ञानभाव के भेदरूप ये सभी उदय पुद्गल के परिणाम हैं और इनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिक के रूप से ज्ञान में आता है। मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना और जीव का अतत्त्वश्रद्धानादिरूप परिणमना - यद्यपि ये तीनों एक ही समय में होते हैं, सब स्वतंत्ररूप से अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता; तथापि इनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव अवश्य है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यहाँ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - सभी को अज्ञानभाव बताया जा रहा है और यह भी कहा गया है कि अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं और ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के अविरति, प्रमाद, कषाय और योग नहीं होना चाहिए; पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों

के ये भाव पाये जाते हैं। तथा यह भी तो स्पष्ट कर आये हैं कि ज्ञानी के विषय-कषाय भी ज्ञानभाव में ही आते हैं और अज्ञानी के व्रत-तपादि भी अज्ञानभाव में ही आते हैं। अत: अब प्रश्न यह होता है कि अविरति आदि को ज्ञानभाव मानें या अज्ञानभाव।

अरे भाई ! सीधी-सरल बात है कि अज्ञानी के अविरति आदि भाव अज्ञानभाव हैं; क्योंकि वह उन्हें निज के मानता है, निजरूप मानता है, उनका कर्त्ता-भोक्ता स्वयं को मानता है, जानता है और ज्ञानी के जो भूमिकानुसार अविरति, प्रमाद, कषायादि पाये जाते हैं, वे सभी ज्ञानभाव में ही आते हैं; क्योंकि ज्ञानी का उनमें एकत्व-ममत्व नहीं है, वह उनका कर्त्ता-भोक्ता अपने को नहीं मानता। यही अन्तर तो है ज्ञानी और अज्ञानी में।

यहाँ अज्ञानी के अविरति आदि भावों की चर्चा है। इसकारण उन्हें अज्ञानभाव में शामिल किया जा रहा है। आत्मख्याति टीका और जयचन्दजी के भावार्थ में इस बात के स्पष्ट संकेत है। 'ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय, ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय और ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय' - इत्यादि कथन से यह स्पष्ट है कि अज्ञानी का ज्ञान उन्हें अपना जान रहा है। ज्ञानी की पर्याय में भूमिकानुसार विद्यमान अविरति, कषायादि के उदय ज्ञानी के मात्र ज्ञेय बनकर रह जाते हैं, स्वादरूप नहीं होते, ज्ञानी उन्हें अपना नहीं जानता है; यही कारण है कि ज्ञानी का उन्हें जाननेरूप परिणमन ज्ञानभाव में ही आता है।

आत्मख्याति टीका के अन्तिम पैरा और जयचन्दजी के भावार्थ में समागत तथ्य भी ध्यान देने योग्य है। उनमें जो कुछ कहा गया है, उसका भाव इसप्रकार भासित होता है -

यद्यपि पुराने पौद्गलिक कर्मों का उदय; उसके निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले औपपादिक भाव, विभाव भाव, राग-द्वेषादि परिणाम और उन परिणामों के निमित्त से होनेवाले आगामी द्रव्यकर्मों का बंध - ये तीनों क्रियायें एकसाथ एकसमय में ही सम्पन्न होती हैं, तथापि पौद्गलिक परिणमन पुद्गल

में होता है, उसका उपादान पुद्गल है और राग-द्वेष के परिणाम आत्मा में होते हैं, उनका उपादान आत्मा है।

'पुराने कर्म के उदय में राग-द्वेष परिणाम और उन राग-द्वेष परिणामों से नये कर्मों का बंध' यदि इसमें राग-द्वेष परिणामों को गौण कर दें तो नये कर्मों के बंधन का कारण पुराने कर्मों के उदय को कहा जा सकता है। इसप्रकार पौद्गलिक कर्मों के बंधन के कारण पौद्गलिक कर्म ही ठहरते हैं।

इसीप्रकार जब कर्मों का उदय होता है, तब आत्मा स्वयमेव ही राग-द्वेषादिभावों रूप परिणमित होता है; परन्तु कर्मों के उदय और राग-द्वेषरूप परिणाम - इन दोनों में एकत्व के अध्यास के कारण, एकत्व की भ्रान्ति के कारण अज्ञानी आत्मा तत्त्व के अश्रद्धानादि रूप अपने अज्ञानमय परिणामों का हेतु बनता है, कर्त्ता बनता है।

अपने अज्ञानमय परिणामों का कर्त्ता अज्ञानी ही बनता है, ज्ञानी नहीं; क्योंकि उसमें उनके एकत्व का अध्यास नहीं है।

इस प्रकरण का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"यहाँ पर यह सिद्ध करना है कि पुराने कर्म का उदय नवीन कर्म के बंध का कारण होता है। मिथ्यात्व, अविरति आदि जो पूर्वबद्ध कर्म हैं, उनका उदय नवीन बंध का कारण है; परन्तु जो जीव स्वयं मिथ्यात्व, अविरति आदि अज्ञानभावरूप से परिणमित होते हैं, उनको ही पूर्वकर्म का उदय निमित्त कहा जाता है। भाई ! बात थोड़ी सूक्ष्म है, वीतराग-सर्वज्ञ का मार्ग अलौकिक है। लोगों को यह सुनने को नहीं मिला; इसकारण कठिन लगता है; परन्तु सुनते-सुनते सब सुलभ हो जाता है।[१]

पुराने कर्म का जो उदय आया, वह नवीन कर्मबन्धन में हेतु है; क्योंकि अज्ञानी जीव जब त्रिकाली शुद्ध चैतन्य के साथ क्षणिक राग के भाव को एक मानकर परिणमता है; तब उसे पुराने द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है और

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २८५

उस रागादि से नवीन कर्मबंध होता है। इसप्रकार पुराना कर्म नवीन कर्मबंध का कारण होता है। विकार का परिणाम जीव का स्वभाव नहीं है, इसलिए यह कहा है कि पुराना कर्म का उदय नवीन कर्मबंध का हेतु है, परन्तु जो अपने चैतन्यस्वभाव को भूलकर विभावरूप से परिणमते हैं - ऐसे मिथ्यादृष्टियों को ही पुराना कर्म का उदय नवीन कर्मबंध का हेतु बनता है।[१]"

प्रश्न – 'द्रव्यप्रत्ययरूप पूर्वकर्म के उदय में मिथ्यात्वादि भावप्रत्यय होंगे और उनके उदयानुसार नवीन द्रव्यकर्मों का बंध होगा।' यदि ऐसा माना जाय तो संसार का कभी अभाव ही न होगा और मुक्ति का मार्ग सदा अवरुद्ध ही रहेगा।

उत्तर – इस प्रश्न का उत्तर आचार्य जयसेन ने उक्त गाथाओं की टीका में इसप्रकार दिया है –

"इसका भावार्थ यह है कि द्रव्यप्रत्ययों का उदय होने पर यदि यह जीव अपने सहजस्वभाव को छोड़कर रागादि भावप्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है, तभी नूतन बंध होता है, केवल द्रव्यप्रत्ययों के उदयमात्र से बंध नहीं होता। जिसप्रकार घोर उपसर्ग होने पर भी पाण्डवादि मुनिराज अपने स्वभाव से च्युत नहीं हुए, रागादिरूप परिणमित नहीं हुए तो उन्हें द्रव्यप्रत्ययों के उदय होने पर भी नवीन बंध नहीं हुआ। इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

यदि द्रव्यप्रत्ययों के उदयमात्र से बंध मान लिया जाय तो फिर सदा संसार ही रहेगा, मुक्ति कभी होगी ही नहीं; क्योंकि संसारी जीवों के कर्म का उदय तो सदा रहता ही है।"

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि द्रव्यप्रत्ययों के उदय में जब जीव स्वयं विकारीभावों रूप परिणमित होता है, तब कर्मबंधन को प्राप्त होता है; किन्तु जब यह जीव कर्मोदय के विद्यमान रहते हुए भी स्वात्मोन्मुखी पुरुषार्थ करके विकाररूप परिणमित नहीं होता, निर्विकारी रहता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है; तब आगामी बंध नहीं होता। अतः आत्मार्थियों को स्वात्मोपलब्धि के लिए सतत् सावधान रहना चाहिए। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २८८

समयसार गाथा १३७ से १४०

अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि पुद्गल का परिणाम जीव से भिन्न है और जीव का परिणाम पुद्गल से भिन्न है।

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥
जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्य दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

इस जीव के रागादि पुद्गलकर्म में भी हों यदि ।
तो जीववत् जड़कर्म भी रागादिमय हो जावेंगे ॥१३७॥
किन्तु जब जड़कर्म बिन ही जीव के रागादि हों ।
तब कर्म जड़ पुद्गलमयी रागादिमय कैसे बनें ? ॥१३८॥
यदि कर्ममय परिणाम पुद्गल द्रव्य का जिय साथ हो ।
तो जीव भी जड़कर्मवत् कर्मत्व को ही प्राप्त हो ॥१३९॥
किन्तु जब जियभाव बिन ही एक पुद्गल द्रव्य का ।
यह कर्ममय परिणाम है तो जीव जड़मय क्यों बनें ? ॥१४०॥

जीव के कर्म के साथ ही रागादि परिणाम होते हैं अर्थात् कर्म और जीव दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमित होते हैं' – यदि ऐसा माना जाय तो जीव और कर्म दोनों ही रागादिभावपने को प्राप्त हो जायें; परन्तु रागादिभावरूप तो एक जीव ही परिणमित होता है। इसकारण कर्मोदयरूप हेतु के बिना ही रागादिभाव जीव के परिणाम हैं।

इसीप्रकार 'पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ ही कर्मरूप परिणाम होता है अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमित होते हैं' – यदि

ऐसा माना जाय तो पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मत्व को प्राप्त हो जायें, परन्तु कर्मरूप परिणमित तो एक पुद्गलद्रव्य ही होता है, इसकारण जीवभाव के हेतु बिना ही कर्म पुद्गल का परिणाम है।

उक्त गाथाओं के भाव को पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यदि यह माना जाय कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो दोनों के रागादिरूप परिणाम सिद्ध हो; किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप कभी नहीं परिणम सकता। इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि रागादि परिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।

यदि यह माना जाय कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो; परन्तु जीव तो कभी भी जड़कर्मरूप नहीं परिणम सकता। इसलिए जीव का अज्ञान परिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, उससे अलग ही पुद्गलद्रव्य का कर्म परिणाम है।"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि जीव के रागादिभाव कार्माणवर्गणा के कर्मरूप परिणमन में निमित्त है तथा कर्म का उदय जीव के आगामी रागादिभावों के होने में निमित्त है; तथापि जीव का रागादिभावरूप परिणमन पूर्णतः जीव का ही है, अकेले जीव का ही है, उसमें कर्म का कुछ भी नहीं है; इसीप्रकार कार्माणवर्गणा का कर्मरूप परिणमन पूर्णतः पुद्गल का ही है, अकेले पुद्गल का ही है, उसमें जीव का कुछ भी नहीं है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"रागादि अज्ञान परिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्म के साथ ही, दोनों एकत्र होकर ही रागादि-अज्ञान परिणाम होता है - यदि ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो जिसप्रकार मिले हुये चूना और हल्दी का लाल परिणाम होता है; उसीप्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनों के रागादि अज्ञान परिणाम की आपत्ति आ जावे; परन्तु रागादि अज्ञान परिणाम तो एक जीव के ही होता है; इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि-अज्ञान परिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।

कर्मपरिणाम के निमित्तभूत रागादि-अज्ञान परिणाम से परिणत जीव के साथ ही पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप परिणाम होते हैं – यदि ऐसा तर्क उपस्थित किया जाय तो जिसप्रकार मिले हुये चूना और हल्दी का लाल परिणाम होता है; उसीप्रकार पुद्गल और जीवद्रव्य – दोनों के कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जावे। परन्तु कर्मत्वरूप परिणाम तो एक पुद्गलद्रव्य के ही होता है; इसलिए जीव के रागादि-अज्ञान परिणाम जो कि कर्म के निमित्त हैं; उनसे भिन्न ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।''

हल्दी और चूना के मिले हुए रूप का उदाहरण देकर आत्मख्याति के उक्त कथन में भी वही बात सिद्ध की गई है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है।

हल्दी और चूना जब मिलकर परिणमते हैं, तब दोनों ही लाल रंगरूप हो जाते हैं, न तो हल्दी पीली रहती है न चूना सफेद। इसीप्रकार यदि आत्मा और कार्माणवर्गणारूप पुद्गल – दोनों मिलकर परिणमें तो दोनों को ही या तो द्रव्यकर्मरूप हो जाना चाहिए या फिर दोनों को ही रागादिभावरूप-भावकर्मरूप हो जाना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता; क्योंकि न तो आत्मा द्रव्यकर्मरूप परिणमित होता है और न कार्माणवर्गणारूप पुद्गल रागादिभावरूप परिणमित होता है; अत: यह स्पष्ट ही है कि आत्मा और पुद्गल मिलकर नहीं परिणमते। आत्मा के रागादिरूप परिणमन में पुद्गलकर्म का उदय निमित्त है और पुद्गलकर्म के बंधने में आत्मा के रागादिभाव निमित्त हैं। रागादिभाव और द्रव्यकर्मों के बंधन तथा द्रव्यकर्मों का उदय और रागादभावों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी दोनों का परिणमन स्वतन्त्र है। यह एकदम स्पष्ट है।

आत्मख्याति में मूल शब्द सुधा है, जिसका अनुवाद पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने फिटकरी किया है, सहजानन्द वर्णी ने भी फिटकरी ही किया है; जबकि अन्यत्र चूना किया गया है। शब्दकोश में भी चूना ही पाया जाता है, फिटकरी नहीं। प्रयोग करके देखने पर पता चला कि चूना और हल्दी के

मिलाने से जैसा लाल रंग होता देखा जाता है, वैसा फिटकरी और हल्दी के मिलाने से नहीं। अतः हमने भी यहाँ सुधा का अर्थ चूना ही किया है।

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में हल्दी और चूना के उदाहरण के माध्यम से ही बात को स्पष्ट करते हैं। हाँ, एक बात तात्पर्यवृत्ति में विशेष जानने योग्य है, जो इसप्रकार है -

"यह जीव अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भावकर्मों का कर्त्ता है। यद्यपि जीव को द्रव्यकर्मों का कर्त्ता कहने वाले अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से यह अशुद्धनिश्चयनय नाम पाता है; तथापि शुद्धात्मद्रव्य को विषय बनानेवाले शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा वह वस्तुतः व्यवहार ही है - यह भावार्थ है।"

उक्त कथन में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह कि यहाँ जीव को अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता कहा गया है; क्योंकि जीव का शरीर से संश्लिष्ट संबंध होने से जीव का शरीर के साथ एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व बतानेवाले नय को अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं और द्रव्यकर्म कार्माणशरीररूप ही है; अतः उनका कर्त्ता जीव को बताना अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का ही कार्य है।

दूसरे यहाँ शुद्धनिश्चयनय से अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार बताया गया है। यह तो आप जानते ही हैं कि पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों में परमशुद्धनिश्चयनय को नयाधिराज कहा गया है और उसकी अपेक्षा शेष सभी नयों को एक अपेक्षा से व्यवहार की कोटि में डाला गया है।

'शुद्धात्मद्रव्य को विषय बनानेवाले शुद्धनिश्चयनय को ऐसा कहकर आचार्य जयसेन यहाँ शुद्धनिश्चय शब्द का प्रयोग परमशुद्धनिश्चयनय के अर्थ में ही कर रहे हैं; क्योंकि दृष्टि का विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य परमशुद्धनिश्चयनय का ही विषय है।

यद्यपि नयचक्रादि ग्रंथों में चार प्रकार के व्यवहारनय और चार प्रकार के निश्चयनय बताये गये हैं और समयसारादि ग्रन्थों में प्रयोग भी तदनुसार ही

पाये जाते हैं; क्योंकि नयचक्रकार स्वयं लिखते हैं कि हमने यह ग्रन्थ समयसारादि ग्रन्थों का आधार लेकर ही बनाया है; तथापि शुद्धात्मा तक ले जाने के लिए नयाधिराज परमशुद्धनिश्चयनय को ही निश्चयनय बताकर शेष को व्यवहार कहने की पद्धति भी अध्यात्म में पाई जाती है। इस बात का प्रबल प्रमाण है आचार्य जयसेन का उक्त कथन।

यहाँ एक और बात भी ध्यान देने योग्य है, वह यह कि विभिन्न प्रकाशनों में उक्त चार गाथाओं के क्रम में अन्तर देखने में आया है। यहाँ हमने जो क्रम दिया है, वह आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में तो है ही; साथ ही आत्मख्याति की जो भाषा टीका जयचंदजी छाबड़ा ने लिखी है, उसमें भी वही क्रम है तथा सहजानन्दवर्णी की सप्तशांगी टीका में भी वही क्रम है; किन्तु सोनगढ़ व जयपुर से प्रकाशित समयसार में ऊपर की दो गाथाएँ बाद में हैं और नीचे की दो गाथायें पहले। गाथाओं के अर्थ पर ध्यान देने पर भी परिवर्तन का कोई कारण नजर नहीं आता है; क्योंकि उनके आगे-पीछे रखने से भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति में एकरूपता रहे – इस भावना से हमने छाबड़ाजी के क्रम को ही रखना उचित समझा है। •

किसी भी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए शान्ति और प्रेम का रास्ता यद्यपि लम्बा रास्ता है, इसमें प्रतिद्वन्द्वी को नहीं, उसके हृदय को जीतना पड़ता है, जीत कर उसे समाप्त नहीं किया जाता, अपितु अपना बनाया जाता है; तथापि टिकाऊ और वास्तविक सफलता प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यही है। इसमें असीम धैर्य की आवश्यकता होती है। साधारण व्यक्ति में तो इतना धैर्य होता ही नहीं कि वह इतनी प्रतीक्षा कर सके – यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों द्वारा महान कार्य सम्पन्न नहीं हो पाते। – सत्य की खोज, पृष्ठ २४७

समयसार गाथा १४१

अब नय विभाग से यह स्पष्ट करते हैं कि यह आत्मा कर्मबंधनों से बद्ध है या अबद्ध, कर्मों ने उसे स्पर्श किया है या नहीं ?

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ॥ १४१॥

कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का ।
पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का ॥ १४१॥

जीव में कर्म बंधा हुआ है और स्पर्शित है - ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव में कर्म अबद्ध और अस्पर्शित है - यह शुद्धनय का कथन है।

आत्मख्याति टीका में भी इस गाथा के इसी अर्थ को मात्र दो पंक्तियों में दुहरा दिया गया है, जो इसप्रकार है -

"जीव को और पुद्गलकर्म को एक बंधपर्यायपने से देखने पर, उनमें उस काल में भिन्नता का अभाव है; इसलिए जीव में कर्म बद्ध-स्पष्ट है - ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है। जीव को तथा पुद्गलकर्म को अनेक द्रव्यपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए जीव में कर्म अबद्ध-स्पृष्ट है - यह निश्चयनय का पक्ष है।"

तात्पर्यवृत्ति में इसकी टीका में तो कुछ विशेष नहीं कहा, किन्तु १४१ से १४४ तक की चार गाथाओं की समुदायपातनिका में उनकी विषयवस्तु का जो संकेत किया है, वह द्रष्टव्य है एवं इसप्रकार है -

"अब व्यवहारनय से जीव बद्ध है और निश्चयनय से अबद्ध है - इत्यादि विकल्परूप नयपक्षपात को स्वीकार न करते हुए शुद्धपारिणामिकपरमभाव-ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से पुण्य-पापादि पदार्थों से भिन्न शुद्धसमयसार का कथन आगामी चार गाथाओं द्वारा करते हैं।"

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अब आगामी गाथाओं में नवतत्त्वों में छुपी हुई, पर नवतत्त्वों से भिन्न आत्मज्योति का स्वरूप स्पष्ट करेंगे, उसके अनुभव की प्रक्रिया पर प्रकाश डालेंगे।

पदार्थों की चर्चा में जीवाजीवादि पदार्थों को मुख्यता न देकर तथा पुण्य-पापादि पदार्थों की बात कहकर आगामी अधिकार का संकेत भी दे दिया है। आगामी चार गाथाओं में कर्त्ताकर्माधिकार समाप्त हो जावेगा और उसके बाद पुण्यपापाधिकार आवेगा। इस बात का संकेत उक्त कथन में है।

अभी तक आचार्यदेव विभिन्न नयों से वस्तु को समझाते आये हैं, अब आगामी गाथाओं में वे हमें नयपक्षातीत वस्तु की ओर ले जाना चाहते हैं; यही कारण है कि उक्त गाथा के माध्यम से एक बार संक्षेप में व्यवहार और निश्चयनय की विषयवस्तु को स्पष्ट किया गया है। •

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्यायदृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जाएगा। तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे। तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी है' - ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है, भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है। अतः वाणी में स्यात् पद का प्रयोग आवश्यक है, स्यात्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

— अनेकान्त और स्याद्वाद, पृष्ठ ७

समयसार गाथा १४२

१४१वीं गाथा में आत्मा के सन्दर्भ में व्यवहारनय और निश्चयनय के पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। उसी के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की उत्थानिका आत्मख्याति में 'ततः किम् - इससे क्या ?' मात्र इतनी ही देते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई नय कुछ भी क्यों न कहे, मुझे उससे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मैं तो नयपक्ष से पार हूँ, नयविकल्पों से विकल्पातीत हूँ और आत्मानुभूति भी नयपक्षातीत अवस्था का नाम है। अतः मुझे इन नय विकल्पों से क्या प्रयोजन है ? इस आशय का प्रतिपादन करने वाली आगामी गाथा इसप्रकार है -

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२॥

अबद्ध है या बद्ध है जिय ये सभी नयपक्ष हैं।
नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है ॥ १४२॥

जीव में कर्म बद्ध या अबद्ध हैं - इसप्रकार तो नय पक्ष जानो; किन्तु जो पक्षातिक्रान्त कहलाता है, समयसार तो वह है, शुद्धात्मा तो वह है।

उक्त भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भावार्थ में इसप्रकार व्यक्त किया है -

"जीव कर्म से 'बंधा हुआ है' तथा 'नहीं बंधा हुआ है' - यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्ध पक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर उसरूप समयसार को, शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिये समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है।"

नय संबंधी जो भी कथन है, चिन्तन है; वह सब विकल्पात्मक है और समयसारस्वरूप भगवान आत्मा निर्विकल्प है, विकल्पातीत है, यही कारण है कि वह नयपक्षातीत है; तात्पर्य यह है कि जब आत्मा का अनुभव होता है, तब नय संबंधी विकल्प नहीं होता।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा भी नयपक्षातीत है और उसकी अनुभूति भी नयपक्षातीत है। नय के कथनों से तो मात्र उसके स्वरूप का प्रतिपादन होता है। जब आत्मा का स्वरूप हमारे विकल्पात्मक ज्ञान में स्पष्ट हो गया तो अब प्रतिपादन का भी क्या प्रयोजन रह जाता है? अतः अब इन नयविकल्पों से बस होओ - इसी में सार है।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जीव में कर्म बद्ध है अथवा जीव में कर्म अबद्ध है - इसप्रकार के दोनों विकल्प नयपक्ष ही हैं। जो व्यक्ति इन दोनों नयपक्षों का उल्लंघन कर देता है, अतिक्रम कर देता है, दोनों को छोड़ देता है; वह समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प होकर, एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है।

जो व्यक्ति 'जीव में कर्म बद्ध है' - ऐसा विकल्प करता है, वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' - ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता और जो व्यक्ति 'जीव में कर्म अबद्ध है' - ऐसा विकल्प करता है, वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' - ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। तथा जो व्यक्ति यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध भी है और अबद्ध भी है' - वह दोनों पक्षों का अतिक्रम न करता हुआ विकल्प का अतिक्रम नहीं करता।

इसलिए जो व्यक्ति समस्त नयपक्षों का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता है और जो समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है, उसका साक्षात् अनुभव करता है।"

गाथा में तो मात्र दो नयपक्षों की ही चर्चा आई है; किन्तु टीका में तीसरे प्रमाणपक्ष को भी रखा गया है, जिसमें कहा गया है कि जो ऐसा विकल्प करता

है कि आत्मा बद्ध भी है और अबद्ध भी है, वह भी विकल्प का अतिक्रमण नहीं करता। इसप्रकार इसमें नय और प्रमाण – दोनों के पक्ष का निषेध किया गया है। कहा गया है कि वस्तु नयातीत ही नहीं, प्रमाणातीत भी है; नयपक्ष के विकल्प से भी पार है और प्रमाण के विकल्प से भी पार है, सबप्रकार के विकल्पों से पार है।

यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि गाथा और टीका में तो इसप्रकार की भाषा का प्रयोग है कि 'जीव में कर्म बद्ध है या अबद्ध' परन्तु जयचन्दजी के भावार्थ में ऐसा लिखा है कि जीव कर्मों से बंधा है या नहीं बंधा है। वर्तमान में समयसार पर प्रवचन करनेवाले सभी प्रवक्ता भी पण्डित जयचन्द के अनुकरण पर 'जीव कर्मों से बंधा है या नहीं बंधा है' भाषा का ही प्रयोग करते हैं। यद्यपि दोनों के भाव में कोई अन्तर नहीं है; तथापि गाथा और टीका की भाषा ही अधिक उपयुक्त लगती है; क्योंकि उसमें भगवान आत्मा की प्रधानता भासित होती है।

गाथा में प्रतिपादित सम्पूर्ण विषय-वस्तु का प्रतिपादन करते हुए स्वामीजी ने जो प्रकाश डाला है, उसमें कुछ ध्यान देने योग्य तथ्य इसप्रकार है –

"इसका अर्थ यह है कि दृष्टि अन्तर में झुकते ही जब सभी विकल्प छूट जाते हैं, तब शुद्ध आत्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है। 'ये विकल्प हैं, मैं इनको छोड़ता हूँ' – ऐसा विकल्प भी नहीं रहता, मात्र अन्तर्दृष्टिपूर्वक अनुभव ही रह जाता है।[१]

यहाँ समस्त नयपक्ष को छोड़ने की बात चल रही है। पीछे ११वीं गाथा में जो यह कहा है कि भूतार्थ के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, वहाँ नयपक्ष के विकल्प की बात नहीं है। वहाँ तो भूतार्थ अर्थात् शाश्वत रहनेवाले शुद्धचैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा को ही शुद्धनय कहा है और उसके आश्रय से जो स्वानुभव प्रगट होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३०५-३०६

यहाँ यह कह रहे हैं कि 'मैं ऐसा हूँ' – ऐसे नयपक्ष को छोड दे। 'आत्मा अबद्धस्पृष्ट है' – यह तो सत्य है। उस अबद्धस्पृष्ट आत्मा को छोड़ने की बात नहीं है, बल्कि 'मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ' – ऐसा जो एक नयपक्ष का विकल्प है, उसको छोड़ने के लिए कहा जा रहा है; क्योंकि जो समस्त विकल्पों को छोड़ता है, वही समयसार को प्राप्त करता है, अनुभव करता है।[१]

जहाँ यह कहा है कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही हैं, वहाँ आशय यह है कि ज्ञानी को जो विकल्प आते हैं, वह उनको मात्र जानता है। जो विकल्प हैं, उनका ज्ञान स्वयं से उत्पन्न होता है और ज्ञानी उस ज्ञान का कर्त्ता है; परन्तु उस विकल्प का कर्त्ता ज्ञानी नहीं है। जिस जाति का विकल्प होता है, उसीप्रकार की ज्ञान में स्वपरप्रकाशक पर्याय स्वयं से उत्पन्न होती है।[२]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मख्याति टीका में न केवल समस्त नयों के पक्षपात से पार होने की ही बात है; पर प्रमाण संबंधी विकल्पों से विराम लेने की भी बात है।

टीका के अन्त में कहा गया है कि 'यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा।' – ऐसा कहकर आचार्य अमृतचन्द्र नयपक्ष के त्याग की भावनावाले २३ कलशरूप काव्य लिखते हैं; जिसमें पहला काव्य इसप्रकार है –

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचितास्त एव साक्षादमृतं पिवंति ॥ ६९॥

(सोरठा)

जो निवसे निज माहि छोड़ सभी नय पक्ष को ।
करे सुधारस पान निर्विकल्प चित शान्त हो ॥ ६९॥

जो नयों के पक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं; क्योंकि उनका चित्त विकल्पजाल रहित हो गया है और एकदम शान्त हो गया है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३०८
२. वही, पृष्ठ ३१०

उक्त छन्द में 'स्वरूपगुप्त' पद आया है। आचार्य अमृतचन्द्र को यह पद अत्यन्त प्रिय है। वे इस पद का प्रयोग बार-बार स्वयं के लिए करते हैं। अन्तिम कलश, जो एक प्रकार से प्रशस्ति का छन्द है, उसमें वे स्वयं को स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र कहते हैं। यहाँ भी वे कह रहे हैं कि जो व्यक्ति स्वरूप में गुप्त रहकर निवास करते हैं, निजात्मस्वरूप का आश्रय करते हैं; वे साक्षात् अमृत का पान करते हैं। इसप्रकार स्वरूपगुप्त और अमृतचन्द्र - ये दोनों पद इस छन्द में भी आये हैं।

उक्त छन्द का भाव पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"जबतक कुछ भी पक्षपात रहता है, तबतक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है, तब वीतरागदशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।"

इसीप्रकार का भाव कलश टीका में पाण्डे राजमलजी भी व्यक्त करते हैं; जो इसप्रकार है -

"जो एक सत्त्वरूप वस्तु है, उसका द्रव्य-गुण-पर्यायरूप, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप विचार करने पर विकल्प होता है, उस विकल्प के होने पर मन आकुल होता है, आकुलता दुःख है, इसलिए वस्तु मात्र के अनुभवने पर विकल्प मिटता है, विकल्प मिटने पर आकुलता मिटती है, आकुलता के मिटने पर दुःख मिटता है, इससे अनुभवशीली जीव परमसुखी है।"

नाटक समयसार में इसका भावानुवाद इसप्रकार किया गया है -

(सवैया तेईसा)

जे न करै नयपच्छ विवाद, धरै न विखाद अलीक न भाखैं।
जे उदवेग तजै घट अन्तर, सीतलभाव निरन्तर राखैं॥
जे न गुनी-गुन भेद विचारत, आकुलता मनकी सब नाखैं।
ते जग मैं धरि आतम ध्यान, अखण्डित ग्यानसुधारस चाखैं॥

जो नयों के पक्ष में पड़कर विवाद नहीं करते हैं, चित्त में विषाद को नहीं रखते हैं, झूठ नहीं बोलते हैं, आंतरिक उद्वेग को छोड़ देते हैं और सदा ही शान्त रहते हैं, जो गुण-गुणी के विचार में भी नहीं उलझते हैं और मन की समस्त आकुलता को छोड़ देते हैं; वे जीव ही इस लोक में आत्मध्यान धारण करके अखण्डित ज्ञानामृत का रस चखते हैं, आत्मानुभव करते हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि जो व्यक्ति नयपक्षातीत होकर निजस्वरूप में निवास करते हैं; वे विकल्पजाल से रहित शान्तचित्तवाले व्यक्ति अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान करते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभवी ही सुखी होते हैं।

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव लगभग एक से ही भाव वाले २० छन्दों के माध्यम से नयपक्ष-संन्यास की भावना को नचाते हैं, आत्मानुभव की भावना को भाते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७० ॥
एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खुल चिच्चिदेव ॥ ७१ ॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७२ ॥
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७३ ॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७४ ॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७५ ॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७६ ॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७७ ॥

एकस्य हेतु र्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७८ ॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७९ ॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८० ॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८१ ॥
एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८२ ॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८३ ॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८४ ॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८५ ॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८६ ॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८७ ॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८८ ॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८९ ॥

(रोला)

एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७०॥

एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७१॥
एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७२॥
एक कहे न दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७३॥
एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७४॥
एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७५॥
एक कहे ना जीव दूसरा कहे जीव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७६॥
एक कहे ना सूक्ष्म दूसरा कहे सूक्ष्म है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७७॥
एक कहे ना हेतु दूसरा कहे हेतु है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७८॥

एक कहे ना कार्य दूसरा कहे कार्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७९॥
एक कहे ना भाव दूसरा कहे भाव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८०॥
एक कहे ना एक दूसरा कहे एक है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८१॥
एक कहे ना सान्त दूसरा कहे सान्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८२॥
एक कहे ना नित्य दूसरा कहे नित्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८३॥
एक कहे ना वाच्य दूसरा कहे वाच्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८४॥
नाना कहता एक दूसरा कहे अनाना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८५॥
एक कहे ना चेत्य दूसरा कहे चेत्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८६॥

एक कहे ना दृश्य दूसरा कहे दृश्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८७॥

एक कहे ना वेद्य दूसरा कहे वेद्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८८॥

एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८९॥

एक नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बंधा है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बंधा नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्व का बेत्ता इन दोनों ही पक्षपातों से रहित होता है। उसके लिए चित्स्वरूप जीव सदा चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव मूढ़ है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव मूढ़ नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव रागी है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव रागी नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव कर्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्ता नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव जीव है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव जीव नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव हेतु (कारण) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव हेतु (कारण) नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव कार्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कार्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव भाव है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भाव नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव एक है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव एक नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव सांत है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सांत नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव नित्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नित्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव वाच्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वाच्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव नानारूप है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नानारूप नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव चेत्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव चेत्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धी में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव दृश्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव दृश्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव वेद्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वेद्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव भात है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भात नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

उक्त बीस छन्दों में यह कहा गया है कि आत्मा बद्ध है, अबद्ध है; मूढ़ है, अमूढ़ है; रागी है, अरागी है; द्वेषी है, अद्वेषी है; कर्त्ता है, अकर्त्ता है; भोक्ता है, अभोक्ता है; जीव है, अजीव है; सूक्ष्म है, स्थूल है; कारण है, अकारण है; कार्य है, अकार्य है; भाव है, अभाव है; एक है, अनेक है; सान्त है, अनन्त है; नित्य है, अनित्य है; वाच्य है, अवाच्य है; नाना है, अनाना है; चेत्य है, अचेत्य है; दृश्य है, अदृश्य है; वेद्य है, अवेद्य है और भात है, अभात है – ये सब नयों के कथन हैं। यद्यपि ये समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, तथापि विकल्पात्मक होने से नयपक्ष ही है।

जो आत्मार्थी उक्त कथनों के माध्यम से यथायोग्य विवक्षापूर्वक वस्तुस्वरूप का निर्णय करके, तत्त्व का निर्णय करके, इन नयकथनों का भी पक्षपात छोड़कर, नयों का पक्षपात छोड़कर, नय कथनों के विकल्पों को तोड़कर, चित्स्वरूप निज आत्मा का अनुभव करता है; वह ही आत्मा को प्राप्त करता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त करता है; अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है; परमसुखी होता है; मुक्ति को प्राप्त करता है।

यद्यपि आत्मा में अनेक साधारण धर्म हैं, सामान्य धर्म हैं; तथापि चित्स्वभाव आत्मा का असाधारण धर्म है, विशेष धर्म है, प्रगट अनुभवगोचर धर्म है। इसकारण उसे मुख्य करके यहाँ जीव को बार-बार चित्स्वरूप ही कहा गया है।

उक्त बीस छन्दों में प्रत्येक के अन्तिम तीन पद तो समान ही हैं, मात्र पहले पद में परिवर्तन है। ७०वें पद में अर्थात् प्रथम पद में समागत बद्ध-अबद्ध पदों

के स्थान पर क्रमशः मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्त्ता-अकर्त्ता आदि पद रखकर शेष छन्द बनाये गये हैं। अतः एक ७०वें छन्द का भाव खयाल में आ जाने पर शेष छन्दों का भाव भी सहज ही भासित हो जाता है।

यही कारण है कि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में मात्र एक ७०वें छन्द का ही अर्थ किया है, शेष छन्दों का अर्थ ही नहीं किया।

कलशटीका में ७०वें छन्द का जो अर्थ किया गया है, उसका भाव इसप्रकार है -

"चैतन्यमात्र वस्तु में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दो नयों के दो ही पक्षपात हैं। जीवद्रव्य अनादि से कर्म संयोग के साथ एक पर्यायरूप विभावरूप परिणमा है। इसप्रकार द्रव्यस्वरूप को ग्रहण न कर मात्र बंधपर्याय की ओर से देखें तो जीव बंधा है। एक पर्यायार्थिक नय का पक्ष तो यह है। दूसरा द्रव्यार्थिक नय का पक्ष यह है कि जीव द्रव्य अनादिनिधन चेतना लक्षण है, उसमें बन्धन है ही नहीं, वह सदा अपने रूप ही रहता है; क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप नहीं परिणमता।

जो व्यक्ति जीव के शुद्ध चेतनामात्र स्वभाव का अनुभवशील है, वह उक्त पक्षपात से रहित है। एक वस्तु की अनेक रूप कल्पना करने का नाम ही पक्षपात है और वस्तुमात्र का स्वाद आने पर कल्पनाबुद्धि सहज ही मिट जाती है। शुद्धस्वरूप का अनुभव करने वाले को चैतन्यवस्तु का प्रत्यक्ष स्वाद आता है। अतः वह नयपक्षातीत है।"

कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में सर्वत्र कलश टीका का अनुसरण करते हैं, इसकारण उन्होंने भी सभी २० छन्दों के भाव को लेकर समयसार में एक ही छन्द बनाया है, जो इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

विवहार-दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै,
निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं।
एक पच्छ बंध्यौ एक पच्छसौं अबंध सदा,
दोउ पच्छ अपनै अनादि धरे इनिहीं॥

कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै,
चिदानन्द तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं ।
बंध्यौ मानै खुल्यौ मानै दोऊ नैको भेद जानै,
सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायौ तिनिहीं ॥

व्यवहारनय से देखो तो आत्मा बंधा हुआ दिखाई देता है और निश्चयनय से देखने पर प्रतीत होता है कि वह किसी से भी बंधा हुआ नहीं है। एक पक्ष आत्मा को बंधा मानता है और दूसरा कहता है कि सदा ही अबंध है। अपेक्षा समझे बिना ये दोनों ही पक्ष अपनय हैं; कुनय हैं; मिथ्यानय हैं और ये अनादि से ही चले आ रहे हैं। कोई नय आत्मा को समल कहता है, कोई नय अमल कहता है; जिस नय से जैसा कहा है, आत्मा उस नय से वैसा ही है; किन्तु जो व्यक्ति प्रत्येक नय के कथन का सही अभिप्राय समझता है, उस कथन के प्रयोजन को भलीभाँति पहिचानता है और आत्मा को यथायोग्य बंधा और अबंध मानता है; वही ज्ञानी है और उसी ने तत्त्व को प्राप्त किया है।

पाण्डे राजमलजी और कविवर बनारसीदासजी ने उक्त छन्द का जो भाव बताया है, उसके अनुशीलन करने पर निम्नांकित बिन्दु ध्यान में आते हैं –

(१) मूल छन्द में तो 'एक नय से बंधा और दूसरे नय से अबंध' – मात्र इतना ही लिखा है, नयों के नामों का उल्लेख नहीं किया है; पर पाण्डे राजमलजी नयों का उल्लेख पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक नयों के रूप में करते हैं और बनारसीदासजी व्यवहार और निश्चय नयों के रूप में करते हैं।

(२) राजमलजी पक्षपात का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि एक वस्तु की अनेक रूप कल्पना करना ही पक्षपात है। वस्तु मात्र का स्वाद आने पर उक्त कल्पना विलीन हो जाती है, आत्मानुभव होने पर विकल्प समाप्त हो जाते हैं। इसी अवस्था का नाम नयपक्षातीत अवस्था है। इसप्रकार आत्मानुभवी ही नयपक्षातीत है, तत्त्ववेदी है।

(३) बनारसीदासजी इस बात पर वजन देते हैं कि जो व्यक्ति दोनों नयों के कथनों के मर्म को समझता है, उनके अभिप्राय को जानता है, प्रयोजन को पहिचानता है; वही ज्ञानवंत है, वही तत्त्ववेदी है, उसने ही तत्त्व को प्राप्त किया है।

उक्त तीन बिन्दुओं में प्रथम बिन्दु के सन्दर्भ में बात यह है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय मूलतः आगम के नय हैं और निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के। यद्यपि ये दोनों ही शैलियाँ एकदम अलग-अलग हैं; तथापि एक-दूसरे की विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में दोनों ही शैलियाँ सहज ही घटित हो जाती हैं। 'आत्मा में कर्म बद्ध हैं' - यह कथन पर्यायदृष्टि से किया गया कथन होने से पर्यायार्थिक नय का कथन है तथा आत्मा और कर्मों के संयोग का कथन होने से दो द्रव्यों के बीच संयोग को बताने वाले असद्भूतव्यवहारनय का कथन भी है। इसीप्रकार 'आत्मा में कर्म अबद्ध हैं' - यह कथन द्रव्यदृष्टि से किया गया होने से द्रव्यार्थिकनय का कथन है और संयोग को अस्वीकार कर देनेवाला कथन होने से शुद्धस्वभाव के प्रतिपादक निश्चयनय का कथन है। - इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ दोनों की शैलियाँ सहजभाव से घटित हो रही हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी संयोग का कथन करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय को नय ही नहीं मानते हैं। जो इस बात से अपरिचित हों, उन्हें '**परमभावप्रकाशक नयचक्र**' का '**पंचाध्यायी के अनुसार व्यवहारनय के भेद-प्रभेद**' प्रकरण का अध्ययन करना चाहिए।

हाँ, तो संयोगी कथन करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय को नयाभास माननेवाले पाण्डे राजमलजी यहाँ 'आत्मा में कर्म बद्ध हैं' - इस संयोगी कथन को व्यवहारनय का कथन कैसे कह सकते थे ? यही कारण है कि उन्होंने यहाँ 'एक नय' शब्द का अर्थ पर्यायार्थिकनय और 'दूसरे नय' शब्द का अर्थ द्रव्यार्थिकनय किया है।

दूसरे वे व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय को पर्यायवाची जैसा ही मानते हैं। जैसाकि उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट ही है -

> **"पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।**
> **एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥"**[1]

१. पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५२१

पर्यायार्थिकनय कहो या व्यवहारनय कहो – इन दोनों का एक ही अर्थ है; क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचार मात्र है।"

जो व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय को पर्यायवाची ही मानता हो, उसे इस बात की गहराई में जाने की क्या आवश्यकता है कि वह 'एक नय' शब्द का अर्थ पर्यायार्थिकनय करे या व्यवहारनय। यही कारण है कि सहजभाव से जो भी शब्द ख्याल में आया, उसी का प्रयोग कर दिया गया।

प्रश्न – यदि यह बात है तो फिर नाटक समयसार में सर्वत्र ही कलश टीका का अनुसरण करने वाले बनारसीदासजी ने यहाँ भी उनका अनुसरण क्यों नहीं किया ?

बनारसीदासजी तो नाटक समयसार के अन्त में प्रशस्ति में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं –

(चौपाई)

पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समैसार नाटक के मर्मी ।
जिन गिरंथ की टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी ॥
इह विधि बोध-वचनिका फैली, समै पाय अध्यातम सैली ।
प्रगटी जगमांही जिनवाणी, घर-घर नाटक कथा बखानी ॥
नाटक समयसार हित जी का, सुगमरूप राजमली टीका ।
कवितबद्ध रचना जो होई, भाषा ग्रन्थ पढ़ै सब कोई ॥
तब बनारसी मनमहिं आनी, कीजै तो प्रगटै जिनवानी ।
पंचपुरुष की आज्ञा लीनी कवितबद्ध की रचना कीनी ॥

उक्त छन्दों से स्पष्ट ही है कि बनारसीदासजी के नाटक समयसार का मुख्य आधार राजमलीय कलशटीका ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना अत्यन्त स्वाभाविक है कि इस छन्द के अर्थ करने में बनारसीदासजी ने कलशटीकाकार का अनुसरण क्यों नहीं किया ?

उत्तर – अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षु समाज इस बात से अपरिचित नहीं है कि आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रन्थ समयसार और नियमसार में निश्चय-व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है तथा प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कथन किया गया है। लगता है कि इस बात को

ध्यान में रखकर ही बनारसीदासजी ने यहाँ निश्चय-व्यवहारनयों का प्रयोग करना ही उपयुक्त समझा है। यह भी हो सकता है कि पाण्डे राजमलजी के समान उनकी दृष्टि में भी व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय एकार्थवाची ही हों। इसकारण उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान ही न दिया हो और सहज छन्दानुरोध से निश्चय-व्यवहार शब्दों का प्रयोग कर दिया हो। जो भी हो, मूल बात यह है कि दोनों ही अर्थ सही हैं और प्रस्तुत प्रकरण में पूर्णतः घटित भी हो जाते हैं तथा आत्मख्याति के कलश के भाव को पूरी तरह स्पष्ट करने में समर्थ हैं।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने दोनों में से किसी भी नय के नाम का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने तो सभी २२ छन्दों में 'एक नय का पक्ष है कि आत्मा बंधा है और दूसरे नय से अबंध है' – इसप्रकार 'एक नय' और 'दूसरें नय' शब्दों से ही काम चला लिया है।

प्रश्न – इस प्रकरण में आपने सबके मत तो बताये, पर आपका मत क्या है ? - यह नहीं बताया।

उत्तर – अरे भाई ! हमारा क्या मत है, हमारा मत तो वही है, जो आचार्यों का है। समयसार १४१वीं गाथा में इसी बात को बताने के लिए शुद्धनय और व्यवहारनय का प्रयोग है और ये कलश भी १४२वीं गाथा के तत्काल बाद आये हैं, प्रकरण भी वही चल रहा है। इसकारण मेरा बल तो निश्चय-व्यवहार की ओर ही जाता है। अकेली कलशटीका को छोड़कर अन्यत्र लगभग सभी जगह निश्चय-व्यवहार नयों का ही प्रयोग है।

नयों के प्रकरण में भी पाण्डे राजमलजी की धारा आज तक प्राप्त आगम-अध्यात्म धारा से कुछ अलग हटकर ही है, उसी की छाया यहाँ भी आ गई लगती है।

दूसरे और तीसरे बिन्दु के संदर्भ में भी दो प्रश्न सामने आते हैं। प्रथम तो यह कि आत्मा अनुभव के काल में ही नयपक्षातीत होता है और दूसरा यह कि वस्तु का सम्यक् स्वरूप जाननेवाले आत्मानुभवी ज्ञानी सदा ही नयपक्षातीत हैं।

जहाँ पक्ष का अर्थ तत्संबंधी विकल्प ही लिया जाय; वहाँ प्रथम अर्थ घटित होगा और जहाँ पक्ष का अर्थ पक्षपात लिया जाय अथवा एक पक्ष के प्रतिपादन में अपर पक्ष का सर्वथा निषेध अभीष्ट हो; वहाँ दूसरा अर्थ घटित होगा।

नयपक्षातीत माने विकल्पातीत। जबतक विकल्प चलेगा, तबतक आत्मा का अनुभव नहीं होगा। यह विकल्प चारित्र संबंधी कमजोरी का परिणाम है; क्योंकि आत्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोगचारित्र निर्विकल्प दशा का ही नाम है। इस अपेक्षा से शुद्धोपयोगियों को ही विकल्पातीत, नयपक्षातीत कहा जाता है; सामान्य ज्ञानियों को भी अनुभूति के काल में ही विकल्पातीत, नयपक्षातीत कहा जाता है।

दूसरे दोनों नयों के स्वरूप को भलीभाँति जाननेवाले, उनके प्रयोजन को पहिचाननेवाले, आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्मा सदा ही नयपक्षातीत हैं; क्योंकि वे दोनों में से किसी भी नय के पक्ष में नहीं पड़ते। वे दोनों को सही रूप में जानते हैं और दोनों का यथायोग्य उपयोग करते हैं। अत: वे सदा ही नयपक्षातीत हैं।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं –

''देखो, 'मैं एक हूँ, अबद्ध हूँ' – इत्यादि प्रकार की जो वृत्ति उठती है, वह भी एक नयपक्ष का विकल्प है; इसका भी जो त्याग करता है, वही सदा स्वरूप में गुप्त होकर रह सकता है। देखो, बाह्य वस्तु का ग्रहण-त्याग तो स्वरूप में है ही नहीं। यहाँ तो एक समय की अवस्था में जो नयपक्ष का विकल्प उठता है, उसके भी त्याग की भावना की बात है।[१]

जबतक व्रत, तपादि शुभराग का पक्षपात रहता है, तबतक चित्त में क्षोभ रहता है। यह बात तो है ही; परन्तु 'मैं शुद्ध हूँ, अभेद एकरूप चिद्रूप हूँ' – ऐसा निजस्वरूप सम्बन्धी नयपक्ष का विकल्प भी जबतक उठता है, तबतक भी चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। ये नयपक्ष के विकल्प भी क्षोभ हैं, आकुलता हैं। जब नय का सर्व पक्षपात मिट जाता है, तब वीतरागदशा होने पर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है तथा अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आता है।[२]

देखो, चौथे गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन होता है, वह श्रद्धा अपेक्षा निर्विकल्प अर्थात् रागरहित वीतरागी परिणाम ही है। ऐसा नहीं समझना कि जीव ११वें-१२वें गुणस्थान में ही वीतरागदशा प्राप्त करता है। भाई! सम्यग्दर्शन स्वयं वीतरागी दशा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३१२
२. वही, पृष्ठ ३१४

'मैं एक हूँ, शुद्ध चिद्रूप हूँ, अबद्ध हूँ' - ऐसा जो नयविकल्प अर्थात् राग की लगन है, जब वह भी छूट जाती है, तब वीतरागी दशा होकर स्वरूप का श्रद्धान निर्विकल्प होता है। भाई ! यह स्वदया की बात है। आत्मा का जीवन ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है। राग या विकल्प आत्मा का जीवन ही नहीं है।[१]

आचार्य कहते हैं कि पहले ज्ञान में ऐसा पक्षपात आता है कि वस्तु यही है, पश्चात् वह पक्षपातरूपविकल्प को मेटकर वस्तु का जो निर्विकल्प अनुभव होता है, वह धर्म है। यह आत्मधर्म की बात है।... तत्त्ववेदी धर्मी जीव चित्स्वरूप को चित्स्वरूप से ही निरन्तर अनुभव करता है। एक समय का भी अन्तर पड़े बिना धर्मी को निरन्तर चैतन्यमूर्ति जलहल ज्योतिस्वरूप भगवान आनन्दस्वरूप से ही अनुभव में आता है।[२]

देखो, प्रारम्भ में वस्तुस्वरूप का निर्णय करते समय नय के विकल्प आते ही हैं और आने ही चाहिए; परन्तु जो पुरुष उनके द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय करके स्वभावसन्मुख होता है, उसे चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप से ही अनुभव होता है। विकल्पों से पार होकर जो चैतन्य की पर्याय स्वभाव में तन्मय होती है, उसी का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। पहले जो ज्ञान पर्याय विकल्प में एकमेक थी, अब ज्ञायक में एकमेक होने लगी है। बस इसी का नाम धर्म है। ज्ञानी को निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही अनुभव में आता है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि तत्त्वविचार के काल में उक्त नयकथनों पर विचार होता है, चिन्तन होता है, मंथन होता है, तत्त्वचर्चा भी होती है; किन्तु अनुभूति के काल में अन्य विकल्पों की बात तो दूर, नयसंबंधी विकल्प भी नहीं होते; क्योंकि आत्मानुभूति निर्विकल्प दशा का नाम है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय संबंधी विकल्प तो होते ही नहीं, निश्चयनय संबंधी विकल्प भी नहीं होते; क्योंकि आत्मानुभूति सर्वविकल्पों से पार ऐसी निर्विकल्प दशा है कि जिसमें किसी भी प्रकार के किसी विकल्प को, विचार को कोई स्थान ही नहीं है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३१५
२. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३१७
३. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३३४

अब उपर्युक्त २० कलशों के भाव का उपसंहार करते हुए आचार्यदेव ९०वां कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(बसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला –
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ९० ॥

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है ।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ॥
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को ।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ॥ ९० ॥

इसप्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है – ऐसी महती नयपक्षकक्षा का उल्लंघन करके ज्ञानी जीव अन्तर्बाह्य से समतारस स्वभाव वाले अनुभूतिमात्र अपने भाव को प्राप्त करते हैं।

उक्त कलश का भावानुवाद बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

प्रथम नियत नय दूजी विवहार नय,
दुहूकौं फलावत अनंत भेद फले हैं ।
ज्यौं-ज्यौं नय फलैं त्यौं-त्यौं मनके कल्लोल फलैं,
चंचल सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं ॥
ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकतासौं नाहिं टले हैं ।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं ॥

पहला निश्चयनय है और दूसरा व्यवहारनय है। इन दोनों नयों की फलावट करने से, इनके विस्तार में जाने से, इनके अनन्तों भेद हो जाते हैं; क्योंकि जितने

भी वचन विकल्प हो सकते हैं, उतने ही नय भी हो सकते हैं। जैसाकि गोम्मटसार में कहा गया है –

'जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। [१]

जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं, अर्थात् नय के भेद हैं।'

ज्यों-ज्यों नयों के विस्तार में जाते हैं, त्यों-त्यों मन के विकल्प भी विस्तार को प्राप्त होते हैं, चंचलचित्त लोकालोक तक उछलने लगता है। ज्ञानी जीव इसप्रकार के नयों के पक्ष को छोड़कर, समरसीभाव को प्राप्त होकर, आत्मा के एकत्व में अटल होकर, महामोह का नाश कर, शुद्ध अनुभव के अभ्यास से निजात्मबल प्रगट करके पूर्णानन्द में लीन हो जाते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि नयविकल्पों के विस्तार से उपयोग समेट कर जब आत्मा स्वभावसन्मुख होकर, निर्विकल्पज्ञानरूप परिणमित होता है; तभी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।

इस कलश के अर्थ में भी कलशटीकाकार ने निश्चय-व्यवहारनय न लेकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय लिए हैं। इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा गत कलश में हो ही चुकी है। अतः अब यहाँ कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अब नय पक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम काव्य कहते हैं –

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ९१॥

(दोहा)

इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज ।
जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥ ९१॥

विपुल, महान, चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरण मात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है, वह चिन्मात्र तेजपुंज मैं हूँ।

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८९४

इस कलश में यह कहा गया है कि मैं तो वह चैतन्य का पुंज चिन्मात्रज्योति भगवान आत्मा हूँ कि जिसके ज्ञान पर्याय में स्फुरायमान होने पर समस्त विकल्पों का शमन हो जाता है, नयों का इन्द्रजाल विलायमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही विकल्पों का जाल समाप्त होता है। अतः एकमात्र वह आत्मा ही श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों की पर्यायों द्वारा आश्रय करने योग्य है। एकमात्र श्रद्धेय, ध्येय और परमज्ञेय निजभगवान आत्मा ही है।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है ।
तैसैं मैं अनादिकौ मिथ्यात की तरंगनिसौं,
भरम मैं धाई बहु काय निज मानी है ॥
अब ग्यानकला जागी भरम की दृष्टि भागी,
अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है ।
जाकै उदै होत परवांन ऐसी भांति भई,
निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है ॥

जिसप्रकार कोई बाजीगर (इन्द्रजालिया-जादूगर) चौराहे पर ढोल बजाकर भीड़ इकट्ठी करके अनेक रूप धारण करके भगल-विद्या का प्रयोग करता है, जादूगरी दिखाता है, ठग विद्या से लोगों को भ्रम में डाल देता है; उसीप्रकार मैं भी अनादिकाल से मिथ्यात्व की तरंगों से भ्रम में भटककर, आन्दोलित होकर अनेक शरीरों को धारण करता हुआ, उन्हें ही अपना मानता रहा; जिस शरीर में पहुँचा, उसे ही अपना मानकर आज तक भटकता रहा हूँ; किन्तु अब मेरे चित्त में ज्ञान कला जाग गई है, भ्रम की दृष्टि भाग गई है, अपने और पराये की सच्ची पहिचान हुई है। ऐसी दृष्टि होने से, ज्ञानकला जागृत होने से मैंने यह प्रमाणित कर लिया है कि जो मेरी चैतन्यज्योति है, निश्चय से मैं तो वही हूँ, मैं तो निज चैतन्यज्योतिस्वरूप ही हूँ। ●

समयसार गाथा १४३

विगत गाथाओं और कलशों में यह बात जोर देकर कहते आ रहे हैं कि समयसार स्वरूप शुद्धात्मा पक्षातिक्रान्त है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि पक्षातिक्रान्त का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यही कारण है कि इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत्** - यदि कोई ऐसा पूछे कि पक्षातिक्रान्त का क्या स्वरूप है तो उसके उत्तर में यह गाथा कही जा रही है -

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समय पडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्ख परिहीणो ॥ १४३॥

दोनों नयों को जानते पर ना ग्रहे नय पक्ष जो ।
नयपक्ष से परिहीन पर निज समय से प्रतिबद्ध वे ॥ १४३॥

नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ, चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों ही नयों के कथनों को मात्र जानता ही है, किन्तु नयपक्ष को किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता।

गाथा में यह तो स्पष्ट है ही कि नयपक्ष से रहित ज्ञानी जीव दोनों नयों के कथनों को जानते तो हैं, परन्तु मात्र जानते ही हैं, नयपक्ष को रंचमात्र भी ग्रहण नहीं करते; साथ ही 'समय से प्रतिबद्ध' विशेषण का प्रयोग होने से यह भी संकेत मिलता है कि यह बात आत्मानुभवी ज्ञानी जीवों की ही है। तात्पर्य यह है कि किसी भी नय के विषय को जानने का निषेध नहीं है; परन्तु नयपक्ष में पड़ने का निषेध अवश्य है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जिसप्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षीपन के कारण श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं, परन्तु सतत् उल्लसित सहज-विमल-सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयमेव

विज्ञानघन स्वभावी होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण समस्त नयपक्ष के परिग्रहण से दूर हुये होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।

उसीप्रकार जो श्रुतज्ञानी आत्मा तत्संबंधी क्षयोपशम से उत्पन्न श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्सुकता से निवृत्त हुआ होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयपक्षों के स्वरूप को केवल जानता ही है; परन्तु अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निस्तुष, नित्य-उदित, चिन्मय समय (आत्मा) से प्रतिबद्धता के द्वारा अर्थात् चैतन्य आत्मा के अनुभव द्वारा अनुभव के समय स्वयमेव विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता हुआ; वह श्रुतज्ञानी आत्मा भी वस्तुतः समस्त विकल्पों से अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्जोति आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।"

टीका का सार संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञातादृष्टा) हैं। उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही है। यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये, तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है, प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे, तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्र मोह का राग रहता है और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को मात्र जानते ही हैं, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं -ऐसा जानना।"

उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु को स्वामीजी ने बहुत ही बढ़िया ढंग से स्पष्ट किया है। अतः अपनी ओर से कुछ भी टिप्पणी किये बिना उनके स्पष्टीकरण को उद्धृत कर देना ही पर्याप्त लगता है; जो इसप्रकार है -

"टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव केवली भगवान का दृष्टान्त देकर समझाते हैं -

(१) जिसप्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षी होने से अन्य समस्त लोकालोक के साथ श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार व निश्चयनय के भेदों को भी मात्र साक्षीपने से जानते ही हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञानात्मक विकल्पमय होते हुए भी पर के ग्रहण के प्रति उत्साह निवृत्त होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चय के पक्षों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं।

(२) जिसप्रकार केवली भगवान निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल, केवलज्ञान से सदा स्वयं ही विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्त हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण करते हुए निर्मल, नित्यउदित, चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा अनुभव के काल में स्वयं ही विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका से पार को प्राप्त हो गये हैं, उसका उल्लंघन कर गये हैं।

(३) जिसतरह केवलज्ञानी श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्तता के कारण समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हो गये हैं, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी अनुभव के काल में स्वयं विज्ञानघन होने से समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हो गये हैं; इसलिए नयपक्ष ग्रहण नहीं करते।

इसप्रकार उपरोक्त तीन बोलों द्वारा सम्यग्दृष्टि के अनुभव की प्रक्रिया को भगवान केवली के ज्ञाता-दृष्टास्वभाव का उदाहरण देकर समझाया है। उक्त बोलों में केवली व श्रुतज्ञानी को समान बताया है। केवली भगवान को श्रुतज्ञान नहीं है; इसकारण उनके नय नहीं हैं; मात्र वे श्रुतज्ञान के स्वरूप को जानते ही हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी को भी आत्मानुभव के काल में व्यवहार-निश्चय का पक्ष छूट गया है, इसकारण वह भी अनुभव के काल में नयपक्ष के स्वरूप को केवल जानता ही है। उसे भी उस समय नयों का विकल्प नहीं रहता।

केवली भगवान तो सदा के लिए पूर्ण विज्ञानघन हो गये हैं, पर सम्यग्दृष्टि केवल अनुभव के काल में ही विज्ञानघन हुआ है; क्योंकि अनुभवकाल के

सिवाय सम्यग्दृष्टि जीव को नानाप्रकार के विकल्प उठते ही हैं, इसलिए केवल अनुभव के काल में ही वह विज्ञानघन हुआ है – यह कहा है। यह बात धर्म की प्रारंभिक भूमिका की है अर्थात् चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की ही बात चल रही है। ···

'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा जो अन्दर विकल्प उठता है, वह अन्तर्जल्प है और बाहर जो वाणी निकलती है, वह बहिर्जल्प है। श्रुतज्ञानी अनुभव के काल में समस्त अन्तर्जल्प व बहिर्जल्परूप विकल्पों को लाँघ चुका है। अहो ! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने श्रुतज्ञानी आत्मानुभवी जीव को केवलज्ञानी से तुलना करके समझाया है, गजब का काम किया है।[1]

जिसमें राग का अंश भी नहीं है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का अनुभव करने वाले को यहाँ पहले परमात्मा कहा, फिर इसके ज्ञानगुण को मुख्य करके ज्ञानात्मा कहा तथा राग से भेदज्ञान कराके उसे ही प्रत्यग्ज्योति कहा, तत्पश्चात् उसे ही आत्मज्योति कहा और अन्त में उसी को अनुभूतिमात्र समयसार कहा है।[2]

पर्याय में बद्ध है, द्रव्य अपेक्षा अबद्ध है; – ऐसा जो वस्तुस्वरूप है, उसे तो अज्ञानी मानता नहीं है और एकान्त से एकपक्ष को ही ग्रहण करता है। पर्याय में अशुद्धता है – ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है और द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है – ऐसा निश्चयनय का पक्ष है। जो इनमें एक नय को तो माने और दूसरे को न माने, तो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।

मैं त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमय आनन्दकन्द प्रभु हूँ – ऐसा तो जाने नहीं और व्रतादि के शुभराग को ही मात्र ग्रहण करके संतुष्ट रहे, तो वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है तथा 'आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है' – ऐसा कहे, परन्तु पर्याय में जो रागादि हैं, उन्हें स्वीकार नहीं करे, तो वह निश्चयभासी मिथ्यादृष्टि है तथा दोनों पक्षों को तो ग्रहण करे और आत्मा को ग्रहण न करें, तो वह भी विकल्पों के जाल में उलझा हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है। जैन होने की तो

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३४४-३४५

२. वही, पृष्ठ ३४७-३४८

यह शर्त है कि किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करे, बल्कि दोनों नयों के द्वारा वस्तु को यथार्थ जानकर नयपक्ष को भी छोड़कर मात्र आत्मवस्तु को ही ग्रहण करे।

प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसे ग्रहण करे, तो मिथ्यात्व नहीं होगा, मात्र चारित्रमोह का राग रहेगा। 'मैं शुद्ध, अखण्ड, एकरूप, आनन्दस्वरूप हूँ, ज्ञायक हूँ' – इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए व्यवहारनय के पक्ष को गौण करके तथा निश्चयनय के पक्ष को मुख्य करके उसे ग्रहण करे, तो मिथ्यात्वरहित मात्र चारित्रमोह का राग रहता है। अनुभव होने के वाद भी 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा प्रधानपने पक्ष रहे, तो वह रागरूप चारित्र का दोष है। उसे ज्ञानी यथावत् जानता है और उग्र पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव का आश्रय करके उसे भी दूर करता है।

और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही है, तब श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी की तरह वीतराग जैसा ही होता है।[१]''

जो लोग स्वामीजी को एकान्ती होने का भ्रम पालते हैं, उन्हें स्वामीजी के उक्त कथनों पर ध्यान देना चाहिए तथा जो लोग उनके अनुयायी होते हुए भी एक पक्ष को ही सर्वथा स्वीकार करना चाहते हैं; उन्हें भी स्वामीजी के उक्त कथनों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है कि –

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥ ९२॥

(रोला)

मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभावभावमय ।
परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय ॥
कर्मजनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं ।
नित अनुभव यह करूँ कि चिन्मय समयसार मैं ॥ ९२॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३४९

चित्स्वरूप के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किये जाते हैं - ऐसा जिसका परमार्थस्वरूप है, इसकारण जो एक है; - ऐसे अपार समयसार को मैं समस्त बंधपद्धति को दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले समस्त भावों को छोड़कर अनुभव करता हूँ।

यहाँ '**चित्स्वभावभर**' पद का प्रयोग है, जो यह बताता है कि यह भगवान आत्मा चित्स्वभाव से भरा हुआ है तथा '**भावित भावाभावभाव**' पद में भाव-अभाव-भाव में भाव माने उत्पाद, अभाव माने व्यय और भाव माने ध्रौव्य होता है। तात्पर्य यह है कि पहले भाव का अर्थ उत्पाद और दूसरे भाव का अर्थ ध्रौव्य लेना है। भावित का अर्थ है कि ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य चित्स्वभाव के द्वारा ही भावित हैं, होते हैं। द्रव्य होने से भगवान आत्मा का परमार्थस्वरूप; उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होना है और इसीकारण भगवान आत्मा एक है। ऐसा यह अपार समयसारस्वरूप भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। ऐसा अनुभव करने से ही सम्पूर्ण बंधपद्धति से निवृत्ति होती है। इसकारण मैं समस्त बंधपद्धति का अभाव करता हुआ ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह चैतन्यस्वरूप परमार्थ आत्मा मैं ही हूँ।

इस सन्दर्भ में पाण्डे राजमलजी कलशटीका में लिखते हैं कि -

"शुद्धस्वरूप का अनुभव होने पर जिसप्रकार नयविकल्प मिट जाते हैं, उसीप्रकार समस्त कर्मों के उदय से होनेवाले भाव भी मिट जाते हैं - ऐसा स्वभाव है।"

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में बनारसीदासजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

जैसैं महा रतन की ज्योति मैं लहरि उठै,
जलकी तरंग जैसैं लीन होय जल मैं ।
तैसैं शुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थल मैं ।।

ऐसै अविकलपी अजलपी अनंदरूपी,
अनादि अनंत गहि लीजै एक पल मैं ।
ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूष पीजै,
बंधकौ विलास डारि दीजै पुद्गल मैं ॥

जिसप्रकार महान रत्न की ज्योति में से लहरें उठती हैं और पानी की तरंगें पानी में ही विलीन हो जाती हैं; उसीप्रकार यह शुद्ध आत्मा अपने द्रव्य और पर्यायों के द्वारा अपने में ही उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर रहता है। ऐसे इस वाणी और विकल्पों से पार, आनन्दमयी, अनादि-अनन्त आत्मा को एक पल में ग्रहण कर लीजिए, इसका अनुभव कीजिए, परम-अमृत का पान कीजिए और बन्ध के विलास को पुद्गल में डाल दीजिए।

देखो, यहाँ यह कह रहे हैं कि जिसप्रकार रत्नों की किरणें रत्नों में से निकलती हैं; उसीप्रकार आत्मा की पर्यायों का उत्पाद आत्मा में से ही होता है तथा जिसप्रकार जल की तरंगें जल में ही समा जाती हैं; उसीप्रकार आत्मा की पर्यायें, व्यय होकर आत्मा में ही समा जाती हैं और आत्मा द्रव्यरूप से सदा ही स्थिर रहता है। इसप्रकार यह भगवान आत्मा अपने में ही उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर रहता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ उत्पाद को समझाने के लिए रत्न की ज्योति का और व्यय को समझाने के लिए जल की तरंगों का उदाहरण दिया है। जल की तरंगों के उदाहरण से यह बात भी स्पष्ट होती है कि जिसप्रकार जल की तरंगें जल में ही समा जाती हैं; उसीप्रकार व्यय होनेवाली पर्यायें द्रव्य में ही समाहित हो जाती हैं, कहीं बाहर नहीं चली जातीं। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वे पर्यायें व्यय होकर आत्मद्रव्य में उदयादि भावों के रूप में न रहकर पारिणामिकभाव के रूप में रहती हैं।

यहाँ बनारसीदासजी कह रहे हैं कि हे भाई ! वाणी और विकल्पों से पार इस आनन्दमयी, अनादि-अनन्त आत्मा को इसी समय एक पल में ही ग्रहण कर लीजिए, इसका ही अनुभव कीजिए, परम-अमृत रस का पान कीजिए और

बंध की चर्चा को पुद्‌गल की कृति जानकर, उससे उपयोग को हटा लीजिए। इसी में सार है और सब असार है, संसार है।

ज्ञानप्रधान कथन होने से ही यहाँ यह कहा गया है कि जिस चित्पुंज आत्मा के द्वारा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किये जाते हैं, मैं उस समयसाररूप आत्मा का अनुभव करता हूँ।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"अहा! त्रिकाली ज्ञायक चैतन्यस्वभावरूप आत्मा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव के द्वारा ही नवीन अवस्थारूप उत्पाद, एक समयपूर्व की पुरानी अवस्था के अभावरूप व्यय तथा स्थिरतारूप ध्रुवस्वभाव से अनुभव में आता है।[१]

यह ज्ञानप्रधान कथन है; अतः कहते हैं कि चित्स्वभाव आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है, व्यवहार के विकल्पों द्वारा नहीं।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव का पुंज भगवान आत्मा स्वयं अपने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमता है अर्थात् ध्रुवरूप से रहता है और उसी के आश्रय से निर्मल वीतरागी पर्याय का उत्पाद होता है।[२]"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि दृष्टिप्रधान कथन में तो भगवान आत्मा को पर और पर्यायों से पार ही बताया जाता है, उत्पाद-व्यय निरपेक्ष ही बताया जाता है; किन्तु ज्ञानप्रधान कथन में उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्व ।ावी भी बताया जाता है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३५०
२. वही, पृष्ठ ५५१

विरोधियों का बिखर जाना कोई विजय ही नहीं है, यह तो नकारात्मक पहलू है। विरोध का समाप्त हो जाना भी पूरी विजय नहीं है; अपितु सबका सत्य के प्रति, तत्त्व के प्रति प्रेम हो जाना ही सच्ची विजय होगी।

– सत्य की खोज, पृष्ठ २४७

समयसार गाथा १४४

यह गाथा कर्ताकर्माधिकार की अन्तिम गाथा है। इसमें पक्षातिक्रान्त संबंधी सम्पूर्ण प्रकरण का समापन है, निष्कर्ष दिया गया है। यही कारण है कि आत्मख्याति में इस गाथा की उत्थानिका इसप्रकार दी गई है -

"**पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते** - यह सुनिश्चित होता है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है।"

पक्षातिक्रान्त को समयसार कहने वाली वह गाथा इसप्रकार है -

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४॥

विरहित सभी नयपक्ष से जो वह समय का सार है।
है वही सम्यग्ज्ञान एवं वही समकित सार है॥ १४४॥

जो सर्वनयपक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है। इसी समयसार को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान - ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है। तात्पर्य यह है कि नामों से भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है।

देखो, यहाँ आत्मा को ही, समयसार को ही; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जा रहा है, दोनों को एक ही वस्तु बताया जा रहा है। इसकी क्या अपेक्षा है - यह सब टीका में स्पष्ट किया जायगा।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका में इस गाथा का जो भाव स्पष्ट किया गया है, वह इसप्रकार है -

"वास्तव में तो समस्त नयपक्षों के द्वारा खण्डित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है - ऐसा समयसाररूप भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम को प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसाररूप आत्मा से अलग नहीं हैं, अभिन्न ही हैं।

पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वरूप सुनिश्चित करके, भलीभाँति समझकर; फिर आत्मा की ख्याति के लिए, प्रगट प्रसिद्धि के लिए, आत्मानुभूति के लिए; परपदार्थों की प्रसिद्धि की हेतुभूत इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्त्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर, आत्मोन्मुख करके; जिसने मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसम्मुख किया है, मतिज्ञान को आत्मोन्मुख किया है; वह, तथा नानाप्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर, आत्मोन्मुख करके; जो श्रुतज्ञान को भी आत्मसम्मुख करता हुआ अत्यन्त विकल्परहित होकर; शीघ्र ही, तत्काल ही निजरस से ही प्रगट होता हुआ; आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो - ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मरूप समयसार का जब वह आत्मा अनुभव करता है, तब उसी समय आत्मा सम्यकतया दिखाई देता है और ज्ञात होता है। इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।''

यहाँ टीका में यह तो कहा ही गया है कि स्वानुभूतिसम्पन्न, पक्षातिक्रान्त, समयसारस्वरूप, भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; साथ ही पक्षातिक्रान्त होने की, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने की, आत्मानुभूति प्राप्त करने की विधि भी बताई गई है।

इस विधि में यह बताया गया है कि सर्वप्रथम क्या करना चाहिए। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए करणलब्धि का होना आवश्यक है और करणलब्धि देशनालब्धि के बिना नहीं होती। अत: सर्वप्रथम देशनालब्धि की बात है और देशनालब्धि के लिए सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के माध्यम से, देव-गुरु के सदुपदेश से, जिनवाणी के स्वाध्याय से, ज्ञानी धर्मात्मा के संबोधन से, तत्संबंधी अध्ययन से, मनन से, चिन्तन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए, ज्ञानस्वभावी आत्मा का विकल्पात्मक ज्ञान में सम्यक् निर्णय करना चाहिए, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भलीभाँति समझना चाहिए; क्योंकि

जबतक आत्मा का स्वरूप विकल्पात्मक ज्ञान में भलीभाँति स्पष्ट नहीं होगा, तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया सम्पन्न होना संभव नहीं है।

आत्मा का लक्षण उपयोग है। अतः ज्ञान-दर्शन उपयोग लक्षण से आत्मा को जानना चाहिए; क्योंकि लक्ष्य की पहिचान लक्षण से ही होती है। यह जानना चाहिए कि जो जानता-देखता है, वही आत्मा है। आत्मा को देहवाला, कुटुम्ब-परिवारवाला, राग-द्वेषवाला जानना - यह आत्मा की सही पहिचान नहीं है। आत्मा को संयोगों से नहीं जानना है, अपितु असंयोगी आत्मतत्त्व को उसके ज्ञानस्वभाव से जानना है। यह जानना है कि आत्मा जानने-देखने के स्वभाववाला पदार्थ है। आत्मा का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है, स्वपर को जानना-देखना मात्र है; पर में कुछ करना या रागादिभाव करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह बात श्रुतज्ञान से जानना है और आत्मा को ज्ञानस्वभावी जानना है, जानने-देखने के स्वभाववाला जानना है।

जब श्रुतज्ञान के माध्यम से ज्ञानस्वभावी आत्मा जान लिया जाय तो फिर उसके बाद मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप ज्ञान पर्यायों को बाह्य विषयों में से समेट कर आत्मसम्मुख करना है। मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से परपदार्थों को जानने में उलझा है और श्रुतज्ञान नानाप्रकार के नयविकल्पों में उलझकर रह गया है, आकुलित हो रहा है। इन दोनों ही ज्ञानों को मर्यादा में लाकर आत्मसन्मुख करना है। आत्मानुभूति प्राप्त करने का यही उपाय है।

जब यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान निर्विकल्प होकर आत्मसम्मुख होते हैं, तब तत्काल ही समयसारस्वरूप भगवान आत्मा का दर्शन होता है, ज्ञान होता है; भगवान आत्मा प्रतीति में आता है, अनुभूति में आता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का झरना झरता है। आत्मा की इसी परिणति का नाम आत्मानुभूति है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है। इसकारण आत्मा और आत्मानुभूति एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी आत्मा ही है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"सर्वप्रथम वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे गये, गणधरदेव द्वारा गूँथे गये एवं तदनुसार कुन्दकुन्दाचार्यादि दिगम्बर सन्तों द्वारा रचे गये शास्त्रों के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिए। निर्विकल्प अनुभव के लिए पहले विकल्प द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने को कहा है। इससे ऐसा नहीं समझना कि यह विकल्पात्मक निर्णये निर्विकल्प अनुभव का कारण है, बल्कि यह जानना कि निर्विकल्प अनुभव के पहले विकल्पात्मक निर्णय होता ही है। प्रथम भूमिका में श्रुतज्ञान के अवलम्बन से राग मिश्रित विचार द्वारा यह निर्णय होता है कि - 'मैं त्रिकाली शुद्ध ज्ञानस्वभावी नित्यानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा हूँ।'

'श्रुतज्ञान के अवलम्बन से' - इसका अर्थ यह है कि सर्वज्ञदेव एवं निर्ग्रन्थगुरु आगम द्वारा जो बात कहते हैं, उसे सुनकर आत्मार्थी जीव पहले विकल्प में ऐसा निर्णय करता है कि मैं विकल्पों से लेकर समस्त लोकालोक से भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वभावी हूँ। इसे जानकर सर्वप्रथम वह मन में विकल्पात्मक निर्णय करता है। सम्यग्दर्शन का होना तो बाद की बात है, यह तो विकल्पात्मक निर्णय करने की बात है।

आत्मा के अनुभव की शुरुआत जिसे करनी हो, जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो; उसे प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए।[१]

जिन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, वे सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से स्वरूप का निश्चय करते हैं। पश्चात् पाँच इन्द्रिय व मन द्वारा परपदार्थों की प्रसिद्धि करनेवाले ज्ञान को मर्यादा में लेते हैं और मतिज्ञान को आत्मसन्मुख करते हैं। मतिज्ञान को परज्ञेयों से हटाकर स्वज्ञेय में जोड़ते हैं, यही आत्मानुभव की विधि की प्रक्रिया है।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३५९-३६०
२. वही, पृष्ठ ३६१

यहाँ कहते हैं कि भाई ! जो मतिज्ञान अभी तक मन और इन्द्रियों की ओर झुका है, उसे वहाँ से हटाकर आत्मसन्मुख कर ! यह एक बोल हुआ। श्रुतज्ञान के अनेक प्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं। मैं अबद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ; मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ; इत्यादि नयपक्ष के विकल्प तो आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं ही; परन्तु मैं अबद्ध हूँ - ऐसे स्वरूप संबंधी विकल्प भी आकुलता उत्पन्न करनेवाले ही हैं। व्रत, तप, भक्ति आदि के राग तो आकुलता उत्पन्न करते ही हैं; परन्तु नयपक्ष का राग भी आकुलता उत्पन्न करता है, दु:खदायी है।

मात्र शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा में राग और दु:ख नहीं है। श्रुतज्ञान के विकल्प से उत्पन्न हुई आकुलता आत्मवस्तु में नहीं है। मैं पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ - ऐसे जो विकल्प उठते हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं। इन विकल्पों से भी भिन्न आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन है।[१]

यहाँ तो यह कहते हैं कि आकुलता को उत्पन्न करनेवाले नयपक्ष के विकल्पों से भगवान आत्मा भिन्न हैं। ऐसा स्वरूप निर्विकल्प अनुभव से प्रसिद्ध होता है, इसकारण श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर अर्थात् श्रुतविकल्प से हटाकर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख करो- ऐसा कहा है।

श्रुतज्ञान की बुद्धियाँ अर्थात् ज्ञान की दशायें, जो नयज्ञान में उलझी पड़ी थीं, उन्हें वहाँ से समेटकर स्वसन्मुख करने को कहा है।[२]

जिससमय आत्मा अनेक विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर श्रुतज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख करता है; उसी समय आत्मा भलीभाँति दिखाई देने लगता है। विकल्प बहिर्मुखभाव हैं, जो विकल्पों में ही अटका रहता है, वह बहिरात्मा है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३६१-३६२
२. वही, पृष्ठ ३६२
३. वही, पृष्ठ ३६३

पहले कहा था कि मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख करना और यहाँ कहते हैं कि श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख ढालना। अहाहा ... ! इसमें कितना पुरुषार्थ है। सम्पूर्ण दिशा (पर से स्वद्रव्य की ओर) पलटने की बात है।

अब कहते हैं कि मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के आत्मसन्मुख होने पर जो आत्मा का अनुभव होता है, उसमें विकल्पों का अत्यन्त अभाव है। 'मैं ऐसा हूँ, ऐसा नहीं हूँ' - ऐसे विकल्पों को भी जहाँ अवकाश नहीं रहता, तो फिर पर के कर्तृत्व की तो बात ही कहाँ रही ? अत्यन्त विकल्परहित होने पर आत्मा तत्काल निजरस से ही प्रगट होता है। अन्तर में दृष्टि पड़ी, ज्ञान की दशा ज्यों ही ज्ञाता की ओर ढली, उसी क्षण भगवान आत्मा निजरस से प्रगट हो जाता है। निजरस अर्थात् ज्ञानरस, आनन्दरस, शान्तरस, समरस, वीतरागरस - ऐसे निजरस से भगवान आत्मा तत्काल प्रसिद्ध हो जाता है।

पर के या विकल्पों के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, किन्तु अन्तर में स्वभावसन्मुख होने पर आत्मा तत्काल निजरस से ही प्रगट होता है।[१]

त्रिकाली ध्रुव-ऐसे द्रव्य के सन्मुख होने पर निजरस से ही आत्मा तत्काल प्रगट हो जाता है, आदि-मध्य-रहित, अनादि-अनन्त, परमात्मरूप समयसार उसी समय सम्यकतया श्रद्धा व ज्ञान का विषय बन जाता है, ज्ञात हो जाता है। आत्मा पहले नहीं था और अब हो गया हो - ऐसा नहीं है। अभी तो मात्र पर्याय में प्रगट-प्रसिद्धि हुई है। जो है, उसी की प्रगट-प्रसिद्धि होती है।[२]

दिगम्बर संत कहते हैं कि भगवान तेरी वर्तमान मतिज्ञान व श्रुतज्ञान की पर्याय पर की ओर झुकी है, इसकारण तुझे परपदार्थ की प्रसिद्धि होती है। अब तू स्व-पदार्थ की प्रसिद्धि के लिए मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के तत्त्व को अन्तर्स्वभाव की ओर झुकाकर स्वसन्मुख हो, जिससे तेरा आत्मा निजरस से ही पर्याय में प्रगट होगा। आत्मा निर्विकल्प वीतरागभाव से ही प्रगट होता है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३६३-३६४
२. वही, पृष्ठ ३६४
३. वही, पृष्ठ ३६५

भावार्थ यह है कि आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा का निश्चय करके इन्द्रिय बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानभाव में ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्प मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करने को ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान अनुभव से कोई जुदी वस्तु नहीं है।[१]"

इसप्रकार कर्त्ताकर्म-अधिकार की इस अन्तिम गाथा और उसकी टीका में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की विधि बताकर यह कहा गया है कि समयसाररूप भगवान आत्मा अथवा उसके अनुभव का नाम ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

अब यहाँ १४४ वीं गाथा की समाप्ति के साथ ही कर्त्ताकर्म-अधिकार भी समाप्त हो रहा है। इस अवसर पर आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका में ७ कलश लिखते हैं, जिनमें आरंभ के दो कलश तो पक्षातिक्रान्त समयसार का स्वरूप बतानेवाले प्रकरण से संबंधित हैं, शेष ५ कलश सम्पूर्ण कर्त्ताकर्म-अधिकार के समापन कलश हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना ।
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ॥
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान् ।
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥ ९३ ॥

(हरिगीत)

यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है ।
यह अचल है अविकल्प है बस यही दर्शन ज्ञान है ॥
निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है ।
जो भी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है ॥ ९३ ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३६९

नयों के पक्षों से रहित, अचल, निर्विकल्पभाव को प्राप्त होता हुआ जो समय का सार प्रकाशित करता है, वह यह समयसार (शुद्धात्मा) है, जो कि निभृत (आत्मलीन-निश्चल) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, उनके अनुभव में आता है और विज्ञान ही जिसका एक रस है - ऐसा भगवान आत्मा पवित्र है, पुराणपुरुष है। उसे ज्ञान कहो या दर्शन, चाहे जो कुछ भी कहो, वह ही सारभूत है। अधिक क्या कहें - जो कुछ है, वह एक ही है।

इस कलश में यह कहा जा रहा है कि विगत गाथाओं में जिस नयपक्षातीत भगवान आत्मा की चर्चा की गई है, वह भगवान आत्मा पुण्यस्वरूप है अर्थात् पवित्र है; पुराण है अर्थात् अत्यन्त प्राचीन है, अनादि-अनन्त है; पुमान है अर्थात् पुरुष है, पौरुष से युक्त है, अनन्तगुणवाला है; अचल है अर्थात् अपने स्वरूप से कभी चलायमान नहीं होता; अविकल्पभावरूप है अर्थात् निर्विकल्प चैतन्यवस्तुरूप है, विकल्पजाल में उलझनेवाला नहीं है, विकल्पों से प्राप्त होनेवाला नहीं है। शुद्धभावरूप-निर्विकल्पभावरूप परिणमता हुआ, विज्ञान ही एक है रस जिसका और जो निभृत पुरुषों द्वारा, आत्मानुभवी ज्ञानियों द्वारा; आस्वाद्यमान है, अनुभव योग्य है; - ऐसा वह भगवान आत्मा ही दर्शन है, ज्ञान है; सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है। अधिक क्या कहें - जो कुछ भी है, वह एक आत्मा ही है।

इसप्रकार यह कलश दृष्टि के विषयभूत, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के एकमात्र मूलाधार भगवान आत्मा की महिमा बतानेवाला कलशकाव्य है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी लिखते हैं -

"भावार्थ इसप्रकार है कि जितना नय है, उतना श्रुतज्ञान है; श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है; इसलिए श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष अनुभवता है। इसकारण प्रत्यक्षरूप से अनुभवता हुआ जो कोई शुद्धस्वरूप आत्मा है, वही ज्ञानपुंज वस्तु है, - ऐसा कहा जाता है।"

इसी का अनुकरण करते हुये बनारसीदास नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

दरब की नय अर परजायनय दोऊ,
श्रुतग्यानरूप श्रुतग्यान तो परोख है।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है॥
अनुभौ प्रवांन भगवान पुरुष पुरान,
ग्यान और विग्यानघन महासुखपोख है।
परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके,
अनुभौ बिना न कहूँ और ठौर मोख है॥

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों ही नय श्रुतज्ञान हैं और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है तथा शुद्ध आत्मा का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह अनुभव निर्दोष है, सुशोभित है, प्रमाण है, भगवान है, पुरुष है, पुराण है, ज्ञान है, विज्ञानघन है, महान है और सुख का पोषण करनेवाला है। यह अनुभव परम पवित्र है, इसके अनन्त नाम हैं, यह मोक्ष स्वरूप है, मोक्ष का कारण है; इसके बिना अन्यत्र कहीं भी मोक्ष नहीं है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ बनारसीदासजी ने सभी विशेषण अनुभव के बना दिये हैं। भगवान, पुण्य, पुराण, पुमान, ज्ञान आदि सभी को अनुभव का नामान्तर बताया है। कलश टीका में भी इसीप्रकार की ध्वनि विद्यमान है और बनारसीदासजी ने इस भाव को वहीं से ग्रहण किया है।

दूसरे यहाँ भी मूल छन्द में नयों के नाम नहीं हैं; परन्तु बनारसीदासजी कलशटीका के अनुकरण पर यहाँ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय ही लेते हैं, पहले के समान निश्चय-व्यवहार नय नहीं लेते। इससे प्रतीत होता है कि बनारसीदासजी को दोनों प्रकार के नयों के लेने में कोई संकोच नहीं है; किन्तु कलशटीकाकार सर्वत्र ही द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों को ही लेते आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षा पहले की ही जा चुकी है। अतः यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

१४४ वीं गाथा में समयसार (शुद्धात्मा) को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा ही है। अतः समयसार के नामान्तरों को अनुभव के नामान्तर कहना

अनुचित भी नहीं है। संक्षेप में यहाँ भी यही कहा जा रहा है कि नयपक्षातीत समयसार ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, अनुभव है और इसी अनुभव के गीत गाये गये हैं नाटक समयसार के इस छन्द में।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं यह आत्मानुभव कैसे होता है ?

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरि विकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो ।
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ॥
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन् ।
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ९४॥

(हरिगीत)

निज औघ से च्युत जिसतरह जल ढालवाले मार्ग से ।
बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो आ मिले निज औघ से ॥
उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निजभाव को ।
निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ मिले ॥ ९४॥

जिसप्रकार पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो, उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाय, तो वह पानी पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ, प्रवाहरूप होकर अपने समूह में आ मिलता है; उसीप्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालों के गहन वन में दूर-दूर तक परिभ्रमण कर रहा था, उसे दूर से विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया। इसलिए विज्ञानघन आत्मा का रसिक आत्मा आत्मा को आत्मा की ओर खींचता हुआ, ज्ञान को ज्ञानी की ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

इस कलश के भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"जैसे पानी, अपने पानी के निवासस्थल से किसी मार्ग से बाहर निकलकर वन में अनेक स्थानों पर बह निकले और फिर किसी ढलानवाले मार्ग द्वारा ज्यों का त्यों अपने निवास स्थान में आ मिले; इसीप्रकार आत्मा भी मिथ्यात्व के मार्ग से स्वभाव से बाहर निकलकर विकल्पों के वन में भ्रमण करता हुआ, किसी भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्गद्वारा स्वयं ही अपने को खींचता हुआ, अपने विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।"

पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है; अतः अपने समूह से विलग होकर गहन वन में नीचे की ओर बहनेवाले पानी का दुबारा उसी जलसमूह में आ मिलना आसान नहीं है; तथापि यदि उसे बलपूर्वक ढालवाले मार्ग से उसी ओर मोड़ दिया जाय, जहाँ से वह जलसमूह से विलग हुआ था, तो वह उसी जलसमूह में आ मिलता है। यद्यपि यह काम आसान नहीं है; तथापि सम्भव है, असम्भव नहीं।

इसीप्रकार अपने विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट विकल्पजाल के गहन वन में भ्रमित आत्मा का आत्मसम्मुख होना आसान नहीं है; तथापि यदि उसको भी विवेकरूपी ढालवाले मार्ग से निज विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाय तो वह भी आत्मानुभव करने में समर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभव की विधि ही यह है कि हम अपने उपयोग को पुरुषार्थपूर्वक स्वस्वभाव की ओर मोड़ें आत्मसन्मुख करें।

१४४ वीं गाथा की टीका में भी यही कहा था कि पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से विषय-कषाय में उलझे मतिज्ञान को उनसे हटाकर बलपूर्वक आत्मसन्मुख करे और नाना नयों के विकल्पों में उलझे श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करे, तब ही आत्मानुभव होता है। उसी बात को इस कलश में कह रहे हैं कि अपने उपयोग को बलपूर्वक आत्मसन्मुख करो; क्योंकि आत्मानुभव करने की यही रीति है, यही विधान है, यही उपाय है।

यह पुरुषार्थ की प्रेरणा देने वाला कलश काव्य है। यह पुरुषार्थ भी अन्य कुछ भी नहीं; मात्र परसन्मुख अपने उपयोग को बलपूर्वक आत्मसन्मुख करना ही है।

इस कलश के भाव को नाटक समयसार में इसप्रकार व्यक्त किया गया है।

(सवैया इकतीसा)

जैसै एक जल नानारूप-दरबानुजोग,
भयौ बहु भाँति पहिचान्यौ न परतु है ।
फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत,
अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है ।
तैसै यह चेतन पदारथ विभाव तासौं,
गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है ।
सम्यक् सुभाई पाइ अनुभौ के पंथ धाइ,
बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है ॥

जिसप्रकार पानी अनेक वस्तुओं के संयोग से अनेकरूप हो जाता है और पहिचानने में नहीं आता, फिर समय आने पर जब संयोग दूर हो जाते हैं, तब अपने स्वभाव में आकर नीचे की ओर बहने लगता है; उसीप्रकार यह चेतन आत्मा विभाव अवस्था में गति, योनि, भेषरूप संसार के भंवरों में भ्रमता रहता है, फिर अवसर आने पर निज सम्यक्स्वभाव को प्राप्त कर, अनुभव के पथ पर लगकर, बंध को नष्ट कर मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्रश्न - संस्कृत छन्द का जो भाव ऊपर बताया गया है, उसमें और नाटक समयसार के छन्द के भाव में एकरूपता दिखाई नहीं देती; क्योंकि संस्कृत के छन्द में तो यह कहा है कि पानी अपने समूह से च्युत होकर नीचे की ओर बहता है, किन्तु जब उसे बलपूर्वक ढालवाले मार्ग से मोड़ दिया जाता है, तब वह उसी में आ मिलता है; और यहाँ यह कहा जा रहा है कि वस्तुओं के संयोग से पानी अनेकरूप हो जाता है और संयोग दूर होने पर स्वभाव में आकर नीचे की ओर बहने लगता है।

पानी के दृष्टान्त में जो अन्तर है, वैसा ही अन्तर सिद्धान्त में भी दिखाई देता है। इसका कारण क्या है ?

उत्तर - यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि बनारसीदासजी नाटक समयसार में सर्वत्र कलश टीका का अनुसरण करते हैं। लगता है यहाँ

भी ऐसा ही हुआ है; क्योंकि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी इस छन्द (कलश) का भाव इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"जिसप्रकार पानी का शीत, स्वच्छ और द्रवत्व स्वभाव है; उस स्वभाव से वह कभी च्युत होता है, अपने स्वभाव को छोड़ता है; उसीप्रकार जीवद्रव्य का स्वभाव केवलज्ञान, केवलदर्शन, अतीन्द्रिय सुख इत्यादि अनन्त गुणस्वरूप है और वह उससे अनादिकाल से भ्रष्ट हुआ है, विभावरूप परिणमा है।

जिसप्रकार पानी अपने स्वाद से भ्रष्ट हुआ नाना वृक्षरूप परिणमता है; उसीप्रकार जीवद्रव्य अपने शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट हुआ नानाप्रकार चतुर्गति पर्यायरूप अपने को आस्वादता है।

जिसप्रकार पानी अपने स्वरूप से भ्रष्ट होता है और काल का निमित्त पाकर पुनः जलरूप होता है, नीचे के मार्ग से ढलकता हुआ पुंजरूप भी होता है; उसीप्रकार जीवद्रव्य अनादि से स्वरूप से भ्रष्ट है। शुद्धस्वरूप लक्षण सम्यक्त्व गुण के प्रगट होने पर मुक्त होता है। – ऐसा द्रव्य का परिणाम है।"

नाटक समयसार का छन्द उक्त भाव का ही अनुसरण कर रहा है।

निजौघ से च्युत पानी का ढालवाले मार्ग से दुबारा उसी समूह में आ मिलना सहजभाव से सबको स्वीकृत नहीं होता। लोगों को ऐसा लगता है कि ऐसा कैसे हो सकता है; क्योंकि पानी का स्वभाव तो नीचे को बहना ही है। तथा पानी का स्वभाव ही जब नीचे बहना है तो फिर पानी का निजौघ से च्युत होकर नीचे बहना विभाव कैसे माना जा सकता है? इसप्रकार के चिन्तन से संगति बिठाने के लिए यह कहा गया है कि जब जल निजौघ से च्युत होता है तो वह ऐड़े-तेड़े, ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भटक जाता है, नानाप्रकार की पृथ्वी और नानाप्रकार की वनस्पतियों में विलीन-सा ही हो जाता है; किन्तु उसी जल को जब ढालवाला नीचा मार्ग मिल जाता है तो वह स्वाभाविकरूप से शान्त होकर सहजभाव से बहने लगता है। इसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अन्तर्मुख सहज स्वाभाविक परिणाम से च्युत होकर भटक जाता है, नानाप्रकार के ज्ञेयों में उलझकर रह जाता है, विभावभावरूप

परिणमने लगता है; किन्तु जब उसे बलपूर्वक विवेक के मार्ग में लगा दिया जाता है तो अन्तर्मुख होकर सहजभाव से स्वभाव में परिणमने लगता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणमने लगता है।

प्रश्न - दोनों अर्थों में कौनसा अर्थ सही है।

उत्तर - दोनों ही सही हैं; क्योंकि दोनों के भाव में कोई अन्तर है ही नहीं। अन्तर तो मात्र उदाहरण को घटित करने में है, उसके स्पष्टीकरण में है, निष्कर्ष में तो कोई अन्तर है ही नहीं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यहाँ नदी के प्रवाह के दृष्टान्त द्वारा जीव की पर्यायजनित भूल और स्वभावगत विशेषता को समझाकर स्वभाव का लक्ष्य कराते हैं। जिसप्रकार नदी का अपार जलसमूह अपने वेग से अपनी धारा में बह रहा हो, उसमें से थोड़ा-सा पानी अपनी धारा को छोड़कर अन्य रास्ते से इधर-उधर बहकर गहन वन में कहीं दूर चला जावे। पश्चात् उसे कोई व्यक्ति ढालवाले मार्ग से उसी नदी की ओर मोड़ देवे, तो फिर वह पानी ढाल पाकर पानी के मूलसमूह की ओर प्रवाहित होता हुआ, पानी के मूलसमूह में मिल जाता है।

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनादिकाल से अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत हुआ था, भ्रष्ट होकर प्रचुर विकल्पजालरूपी वन में भटक गया था। अपनी त्रिकाली ध्रुवस्वभावी प्रवाहरूप वस्तु तो त्रिकाल अपने ज्ञान व आनन्द के रस से भरपूर ही पड़ी है; किन्तु केवल पर्याय में वह आत्मा उस परिपूर्ण स्वभाव से च्युत हो रहा है, अनादिकाल से भ्रष्ट हो रहा है; अब वह अपने उग्र पुरुषार्थ से विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप विज्ञानघनस्वभाव की ओर आया है।

कलश टीका में पण्डित राजमलजी ने '**विवेक निम्नगमनात्**' पद का अर्थ यह किया है कि - शुद्धस्वरूप का अनुभव यही हुआ नीचा ढालवाला मार्ग, उस कारण से जीवद्रव्य का जैसा स्वरूप था, वैसा प्रगट हुआ।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३७७

जो अज्ञानीजीव अनादिकाल से अपने विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट हुआ प्रचुर विकल्परूपी गहन वन में दूर-दूर तक भटक रहा था, अनेकप्रकार के विकल्प के रागजाल में स्वतः उलझ रहा था; दया, दान, व्रत आदि शुभ-पुण्यरूप तथा हिंसादि अशुभ-पापरूप अनन्तप्रकार के शुभाशुभ विकल्पों या अनेकप्रकार के नय विकल्पों के इन्द्रजाल में स्वयं अपने विभाव स्वभाव में अटक रहा था; वह तत्त्वज्ञान के बल से उसे दूर से ही छोड़कर अर्थात् रागादि से मिले बिना ही अपने उपयोग को स्वभाव में जोड़ देता है। भेदज्ञान द्वारा प्राप्त अपने बल से ही अपने चैतन्यस्वभाव की ओर झुक जाता है।[१]

श्लोक में ऐसा पाठ है कि '**विवेक निम्नगमनात्**' - इसका अर्थ यह है कि भेदज्ञानरूपी मार्ग द्वारा स्वयं अपने ज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है। ढालवाला मार्ग अर्थात् भेदज्ञानरूप गंभीर मार्ग, इसके द्वारा स्वरूप में आ मिलता है।[२]

भेदज्ञानरूपी जो गंभीर ढालवाला मार्ग है, वह अन्तर्स्वभाव की ओर जानेवाला मार्ग है; और विकल्प पर की ओर जानेवाला मार्ग है। भेदज्ञान द्वारा जिसको स्वभाव का आश्रय हो जाता है, वह विकल्पों से भिन्न होता है, फिर उसे विकल्पों का कर्तृत्व नहीं रहता। अज्ञानी दया, दान, व्रत आदि शुभ विकल्पों को अपना स्वरूप मानकर विकल्पों का कर्त्ता बनकर निज चैतन्यस्वरूप से भ्रष्ट होकर विकल्पवन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।[३]''

पानी का समूह तो समुद्र, नदी, झील और तालाब - सभी में होता है; तथापि स्वामीजी ने जलौघ का अर्थ नदी ही किया है, जो उपयुक्त ही है; क्योंकि समुद्र, झील और तालाब का पानी यदि अपने समूह से च्युत होकर नीचे की ओर बह जावे तो यांत्रिक प्रयोग के बिना उसका उसी जलसमूह में मिलना संभव नहीं है; परन्तु निजसमूह से च्युत नदी के पानी को ढालवाले मार्ग से उसी जलसमूह में मिलाना बिना यंत्र के भी संभव है; क्योंकि नदी का पानी

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३७८
२. वही, पृष्ठ ३७९
३. वही, पृष्ठ ३७९-३८०

भी तो सहजभाव से नीचे की ओर ही बह रहा है। जिसस्थान पर पानी अपने समूह से च्युत हुआ है, भले ही उसे उसी स्थान पर न मिलाया जा सके; परन्तु उसी जलधारा में आगे अवश्य मिलाया जा सकता है।

हरिद्वार में गंगानदी की एक जलधारा को नहर का रूप देकर गंगा से पृथक् किया गया और उसी जलधारा (नहर) को लगभग पाँच सौ किलोमीटर अलग चलाकर कानपुर के आस-पास उसी गंगा नदी में ही मिला दिया गया।

अतः स्वामीजी ने जो जलसमूह का अर्थ नदी किया है; वह तर्कसंगत है एवं उनके लौकिक अनुभव को भी सिद्ध करता है।

अरे भाई! नदी का जो पानी अपनी मूलधारा से अलग हो जायगा, बिछुड़ जायगा; उसकी दुर्दशा ही होनेवाली है, उसका विनाश सुनिश्चित ही है; वह पानी अब पानी के रूप में नहीं रह पावेगा; या तो मिट्टी में मिलकर कीचड़ हो जावेगा या फिर किसी वृक्ष द्वारा सोख लिया जायगा। यदि वह जल अपनी सुरक्षा चाहता है तो अब उसे जैसे भी बने नदी की मूलधारा की ओर ही लौटना होगा; उसकी सुरक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसीप्रकार जिस आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र त्रिकालीध्रुव निज शुद्धात्मा से च्युत होकर परपदार्थों में समर्पित हैं; उनकी दुर्दशा सुनिश्चित ही है। ऐसे जीव ही चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटक रहे हैं और तबतक भटकते रहेंगे, जबतक कि वे पर से परान्मुख होकर निज भगवान आत्मा के प्रति समर्पित नहीं होते।

तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा के श्रद्धागुण ने अपने त्रिकालीध्रुव आत्मा में अपनापन न रखकर अपने आत्मा से भिन्न परपदार्थों और अपने ही आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादिभावों में अपनापन रखा; तथा जिस आत्मा के ज्ञानगुण ने अपने आत्मा को निजरूप न जानकर परपदार्थों और रागादि को निजरूप जाना; इसीप्रकार जिस आत्मा के चारित्रगुण ने निज आत्मा में लीनता न करके, स्थिरता न रखकर; परपदार्थों और रागादिभावों में लीनता की, स्थिरता की; वह आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटक-भटक कर अनन्त दुःख उठाता है।

जो आत्मा आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अपने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रगुण को आत्मसम्मुख करते हैं अर्थात् ऐसा श्रद्धान करते हैं कि मैं तो त्रिकालीध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ; ऐसा ही जानते हैं और इसी आत्मा में उपयोग स्थिर कर लीन हो जाते हैं; वे सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्राप्तकर अनन्त सुखी हो जाते हैं।

अतः प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन का कर्त्तव्य है कि वे अपने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र को पुरुषार्थपूर्वक निज आत्मा की ओर मोड़ें; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

इसप्रकार इस कलश में इन्द्रियों के माध्यम से विषय-विकार में फंसे और नयों के विकल्पजाल में उलझे आत्मा को निजस्वभाव से भ्रष्ट बताकर, अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा निज शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार ९३ एवं ९४ इन दो कलशों में नयपक्षातीत भगवान आत्मा के प्रकरण का समापन करके अब आगामी ५ कलशों में सम्पूर्ण कर्त्ताकर्म अधिकार का समापन करते हैं।

(अनुष्टुप्)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ९५॥

(रोला)

है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे ॥ ९५॥

विकल्प करनेवाला कर्त्ता है और वह विकल्प ही उसका कर्म है। इसप्रकार सविकल्पपुरुषों की कर्त्ताकर्मप्रवृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जबतक विकल्पभाव हैं, तबतक कर्त्ताकर्मभाव है और जब विकल्पों का अभाव हो जाता है, तब कर्त्ताकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।

यहाँ मोह-राग-द्वेषमय विकल्पों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्थापित करनेवाले अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को सविकल्प कहा गया है। ऐसे सविकल्प अज्ञानी के कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का नाश कभी नहीं होता। यही बताया गया है इस छन्द में।

कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी की दृष्टि में भी कर्मजनित रागादिभावों में अपनापन मानने वाला मिथ्यादृष्टि ही सविकल्प है और इसप्रकार के सविकल्प (मिथ्यादृष्टि) के कर्त्ताकर्मभाव कभी भी नष्ट नहीं होता। इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं –

''कोई ऐसा मानेगा कि जीवद्रव्य सदा ही अकर्त्ता है, तो उसके प्रति ऐसा समाधान है कि जितने काल तक जीव का सम्यक्त्व गुण प्रगट नहीं होता, उतने काल तक जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि हो तो अशुद्ध परिणाम का कर्त्ता होता है। सो जब सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है, तब अशुद्ध परिणाम मिटता है और तब अशुद्ध परिणाम का कर्त्ता नहीं होता है।''

कलशटीकाकार के उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि परद्रव्य और रागादिभावों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व भावों को ही यहाँ अशुद्धभाव कहा गया है। ये अशुद्धभाव मिथ्यादृष्टि के हैं; अतः वह इनका कर्त्ता है और सम्यग्दृष्टि के ये भाव नहीं हैं; अतः वह इनका कर्त्ता नहीं है।

जब कर्तृत्वादि के भाव सम्यग्दृष्टि के हैं ही नहीं, तो वह उनका कर्त्ता किसप्रकार हो सकता है? तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व संबंधी रागादि हैं और वह उनका कर्त्ता है और सम्यग्दृष्टि के वे मिथ्यात्व संबंधी रागादि हैं ही नहीं; अतः वह उनका कर्त्ता भी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के जो चारित्रमोह संबंधी रागादिभाव अभी विद्यमान हैं; उनकी बात यहाँ नहीं की जा रही है। यहाँ तो रागादिभावों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वभावरूप रागादिभावों की बात है।

इसी स्पष्टीकरण को ध्यान में रखते हुए कविवर पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(दोहा)

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव।
तातैं भावित करमकौ, करता कह्यो सदीव॥

मिथ्यादृष्टि (सविकल्प) जीव दिन-रात मिथ्याभावों को धारण किए रहता है, किया करता है, इस कारण भावकर्मों का कर्त्ता कहा गया है।

यहाँ बनारसीदासजी ने सविकल्प का अर्थ सीधा मिथ्यादृष्टि ही ले लिया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चारित्रमोह संबंधी विकल्पों को विकल्प की श्रेणी में नहीं रखा है।

'सविकल्प' शब्द का अर्थ स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्ता-कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। अर्थात् जो ऐसे विकल्प सहित है कि – 'विकल्प मेरा है, मैं विकल्प का कर्ता हूँ और विकल्प मेरा कर्म है' – उसकी कर्ता-कर्मपने की वृत्ति चलती ही रहती है, उसको कभी भी निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।[१]"

स्वामीजी के उक्त कथन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ विकल्प का अर्थ मात्र विकल्प का उठना ही नहीं है, अपितु विकल्प में ममत्वबुद्धि एवं कर्तृत्वबुद्धि का नाम विकल्प है, मिथ्यात्व संबंधी विकल्प का नाम विकल्प है। चारित्रमोह संबंधी विकल्प यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ पर में और विकल्पों में एकत्व-ममत्व करनेवाले एवं विकल्पों का कर्त्ता स्वयं को माननेवाले को ही सविकल्पक कहा गया है।

अब आगामी कलश में भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं हो सकता।

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्॥९६॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८१

(रोला)

जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे ।
जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई ।
जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई ॥ ९६ ॥

जो करता है, वह मात्र करता ही है और जो जानता है, वह मात्र जानता ही है। जो करता है, वह कभी जानता नहीं और जो जानता है, वह कभी करता नहीं। तात्पर्य यह है कि जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी लिखते हैं -

"भावार्थ इसप्रकार है कि सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम परस्पर विरुद्ध हैं। जिसप्रकार सूर्य का प्रकाश होने पर अन्धकार नहीं होता और अंधकार होने पर प्रकाश नहीं होता; उसीप्रकार सम्यक्त्व के परिणाम होने पर मिथ्यात्व परिणमन नहीं होता है। इसकारण एक काल में एक परिणामस्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है; अतः उस परिणाम का कर्त्ता होता है। इसकारण मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का कर्त्ता और सम्यग्दृष्टि जीव कर्म का अकर्त्ता - ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ।"

कलशटीका के इस कथन में ज्ञातृत्वभाव को सम्यक्त्व और कर्तृत्वभाव को मिथ्यात्व शब्द से अभिहित किया है; तथा उन दोनों को परस्पर विरोधी परिणाम बताया है।

इसी भाव को बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(चौपाई)

करै करम सोई करतारा, जो जाने सौ जाननहारा ।
जो करता नहिं जाने सोई, जाने सो करता नहीं होई ॥

जो कर्म करे, वह कर्त्ता है और जो जाने सो ज्ञाता है। जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी आत्मा परपदार्थों और पर्याय में विद्यमान रागादिभावों का सहज ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, कर्त्ता-भोक्ता नहीं बनता। इसीकारण उसे मिथ्यात्वादि संबंधी बंध नहीं होता।

इस संबंध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

''अज्ञानी अपनी मिथ्या मान्यता से ऐसा मानता है कि राग मेरा कार्य है; अतः वह राग का कर्त्ता ही है तथा ज्ञानी अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति द्वारा राग को व स्वयं को मात्र जानता ही है, अतः ज्ञाता ही है। कथंचित् जानता है और कथंचित् करता है - ऐसा नहीं है; क्योंकि कर्त्तृत्व और ज्ञातृत्व ये दो एक साथ नहीं रह सकते।[१]''

इसी बात का स्पष्टीकरण आगामी कलश में भी करते हैं, जो इसप्रकार है -

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः,
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने,
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ९७॥

(रोला)

करने रूप क्रिया में जानना भासित न हो ।
जानन रूप क्रिया में करना भासित न हो ॥
इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं ।
इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥ ९७॥

करने रूप क्रिया के भीतर जानने रूप क्रिया भासित नहीं होती और जानने रूप क्रिया के भीतर करने रूप क्रिया भासित नहीं होती। इसलिए ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं।

पाण्डे राजमलजी ज्ञप्ति क्रिया का अर्थ ज्ञानगुण और करोति क्रिया का अर्थ मिथ्यात्व रागादिरूप चिक्कणता करते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३८३

लिखते हैं कि **ज्ञप्ति माने** ज्ञानगुण और **करोतौ** माने मिथ्यात्व रागादिरूप चिक्कणता; इनमें **न हि भासते** माने एकपना नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव के ज्ञानगुण भी है और रागादि चिक्कणता भी है। कर्मबंध रागादि चिक्कणता से होता है, ज्ञानगुण के परिणमन से नहीं – ऐसा वस्तुस्वरूप है। ज्ञानगुण और अशुद्धपना मिले हुए दिखते हैं, पर हैं भिन्न-भिन्न। इसकारण से ऐसा सिद्धान्त निष्पन्न हुआ कि सम्यग्दृष्टि पुरुष रागादि अशुद्ध परिणाम का कर्त्ता नहीं होता। भावार्थ इसप्रकार है कि द्रव्य के स्वभाव से ज्ञानगुण कर्त्ता नहीं है, अशुद्धपना कर्त्ता है। सो सम्यग्दृष्टि के अशुद्धपना नहीं है; इसलिए कर्त्ता नहीं है।"

उक्त टीका को आधार बनाकर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सोरठा)

ग्यान मिथ्यात न एक, नहिं रागादिक ग्यान महि ।
ग्यान करम अतिरेक, ग्याता सो करता नहीं ॥

ज्ञान और मिथ्यात्व एक नहीं हैं, ज्ञान में रागादिक नहीं होते तथा ज्ञान और कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं, इसकारण ज्ञाता कर्त्ता नहीं है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति स्वयं में ही उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्त्ता बनता है, उन्हें अपना जानता-मानता है, उसके कर्तृत्वबुद्धिरूप और स्वामित्वबुद्धि (ममत्वबुद्धि) रूप मि' ग्रात्व होता है, अनन्तानुबंधी संबंधी राग-द्वेष होते हैं और वह उनका कर्त्ता होता है तथा वे उसके कर्म होते हैं। इसप्रकार अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) रागादिभावों का कर्त्ता होता है और वे रागादिभाव उसके कर्म होते हैं। पर का कर्त्ता-भोक्ता तो ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के जो रागादिभाव (अप्रत्याख्यानादि संबंधी) पाये जाते हैं, वह उनका कर्त्ता नहीं बनता, उन्हें अपना नहीं मानता; इसकारण उसे उनमें कर्तृत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि रूप अज्ञान नहीं है, मिथ्यात्व नहीं है, अनन्तानुबंधी राग नहीं है; इसकारण वह उनका कर्त्ता भी नहीं है और

इसीकारण उसे तत्संबंधी बंध भी नहीं होता। उसके जो अप्रत्याख्यानादि संबंधी रागादि विद्यमान हैं और तत्संबंधी जो बंध होता है, वे रागादिभाव व वह बंध अनंतसंसार का कारण न होने से यहाँ उन्हें बंध ही नहीं माना गया है। जहाँ चारित्रमोह संबंधी बंध की चर्चा होती है, वहाँ उन्हें भी बंध का कारण कहा जाता है और कर्त्तानय से आत्मा को उनका कर्त्ता भी कहा जाता है। वह ज्ञानी-अज्ञानी दोनों पर ही समानरूप से घटित होता है।

इसकी चर्चा भावार्थ में पं. जयचंदजी छाबड़ा ने की है; जो इसप्रकार हैं -

"जब आत्मा इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को करता हूँ' तब तो वह कर्त्ताभावरूप परिणमनक्रिया के करने से अर्थात् 'करोति' क्रिया के करने से कर्त्ता ही है और जब वह इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करने से अर्थात् 'ज्ञप्ति' क्रिया के करने से ज्ञाता ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अविरत-सम्यग्दृष्टि आदि को जबतक चारित्रमोह का उदय रहता है, तबतक वह कषायरूप परिणमन करता है; इसलिये वह उसका कर्त्ता कहलाता है या नहीं ?

उसका समाधान - अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के श्रद्धा व ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्त्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। जो कषायरूप परिणमन है, वह उदय की बलवत्ता के कारण है; वह उसका ज्ञाता है; इसलिए उसके अज्ञान संबंधी कर्त्तृत्व नहीं है। निमित्त की बलवत्ता से होनेवाले परिणमन का फल किंचित् होता है, वह संसार का कारण नहीं है। जैसे वृक्ष की जड़ काट देने के बाद वह वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे - प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना।"

उक्त संदर्भ में स्वामीजी ने बहुत विस्तार से स्पष्टीकरण किया, जो अत्यन्त उपयोगी है। उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है -

"जो जीव राग के परिणामरूप क्रिया को करता है अर्थात् 'यह शुभराग की क्रिया मेरी है, मैं शुभराग की क्रिया करता हूँ' - ऐसा जो मानता है, उसे

अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव भासित नहीं होता, अर्थात् वह ज्ञाता-दृष्टाभाव से रहनेरूप क्रिया को नहीं कर सकता, ज्ञाता-दृष्टा नहीं रह सकता।

देखो, यहाँ जड़ की क्रिया करने की बात नहीं है। आत्मा पुद्गल का कर्त्ता नहीं है - यह बात बाद में करेंगे। यहाँ तो अभी आत्मा और आत्मा की अशुद्धता के बीच की बात है। आचार्य कहते हैं कि जिसे ऐसा भासित होता है कि मैं राग की क्रिया करता हूँ, उसे अपनी जाननक्रिया भासित नहीं होती।

जगत के लौकिक जन दया-दान-व्रत आदि बाह्य क्रियायें करके उन्हें धर्म का साधन मानते हैं; परन्तु भाई ! यह मान्यता यथार्थ नहीं है। राग की क्रिया के कर्त्तृत्व में आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप परिणमन नहीं होता। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का संवेदन होकर जो जाननेरूप क्रिया होती है, उसे ज्ञान की क्रिया कहते हैं। ज्ञानरूप, श्रद्धानरूप, वीतरागी शान्तिरूप तथा आनन्दरूप से जो आत्मा का परिणमन होता है, वह ज्ञान की क्रिया है। ऐसी ज्ञान की क्रिया के काल में ज्ञानी को राग के कर्त्तृत्वरूप अज्ञान की क्रिया नहीं होती और होती नहीं है, इसलिए भासती नहीं है।

प्रश्न - तो क्या ज्ञानी को राग होता ही नहीं है ?

उत्तर - नहीं, भाई ! ऐसी बात नहीं है। ज्ञानी को राग तो होता है; परन्तु 'राग की क्रिया मेरी है' - ऐसा उसे भासित नहीं होता, अर्थात् उसे राग की क्रिया का स्वामित्व नहीं है, वह उस क्रिया को अपनी क्रिया नहीं मानता। यह चौथे गुणस्थान की बात है। पुरुषार्थ की हीनता के कारण अल्पराग की रचना होती है; परन्तु 'वह क्रिया मेरी, मैं उसका कर्त्ता हूँ' - ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता है। ज्ञानी के ज्ञान की रचना होती है - उस ज्ञान की रचना में उसे राग की रचना भासित नहीं होती। तात्पर्य यह है कि धर्मी को राग तो होता है; परन्तु वह उस राग का स्वामी नहीं बनता।

आत्मा में एक स्व-स्वामित्व नामक शक्ति है। ज्ञानी के द्रव्य, गुण एवं शुद्ध पर्याय 'स्व' हैं तथा ज्ञानी उनका स्वामी है, ज्ञानी अशुद्धता का स्वामी नहीं है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८६-३८७

धर्मी को जब जो राग की क्रिया होती है, उसकाल में उसे उसका ज्ञान भी होता है; क्योंकि ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है कि जैसा वहाँ पर्याय में राग-द्वेष, विषय-वासना आदि भाव उत्पन्न होता है, उसका ज्ञान भी यहाँ स्वतः उत्पन्न होता है। राग के कारण राग का ज्ञान हुआ हो – ऐसा नहीं है, बल्कि ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण ही ज्ञानी को स्व-परप्रकाशक परिणति प्रगट होती है; इसीलिए कहा है कि ज्ञानी की क्रिया में अशुद्धता की क्रिया भासित नहीं होती, अर्थात् ज्ञप्ति क्रिया में करोति क्रिया नहीं होती।

'करोति' क्रिया अर्थात् आत्मा का अशुद्धपना, मिथ्यात्व रागादिरूप क्रिया और 'ज्ञप्ति' क्रिया अर्थात् ज्ञानी की ज्ञाताभाव से रहनेरूप क्रिया – दोनों क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अज्ञानी के रागादिरूप अशुद्ध क्रिया है, उसके केवल ज्ञाता-दृष्टा रहनेरूप ज्ञान की क्रिया नहीं है और ज्ञानी के ज्ञातारूप ज्ञान क्रिया है, रागादिरूप अशुद्ध क्रिया नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं है; जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं है। सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव अपने शाश्वत ध्रुव ज्ञातास्वभाव का ज्ञायक है। शुद्ध चैतन्य की दृष्टि में वह वर्तमान अशुद्ध कृत्रिम रागरूप अशुद्ध क्रिया का स्वामी नहीं है, इसकारण वे दोनों क्रियायें एक साथ नहीं होतीं; दोनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानी के अशुद्ध रागादि क्रिया होते हुए भी ज्ञानी उसका स्वामी नहीं है; अतः वह केवल ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। ११०वें कलश में आया है कि ज्ञानधारा ज्ञानभाव से प्रवाहित होती है और रागधारा (कर्मधारा) रागरूप प्रवाहित होती है। दोनों साथ हैं; परन्तु दोनों एकमेक नहीं हैं – ऐसा वहाँ सिद्ध किया है। ज्ञानधारा धर्म है, संवर-निर्जरा का कारण है और रागधारा कर्मधारा है और वह बंध का कारण है।

परन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ज्ञानी के अकेली ज्ञानधारा है; क्योंकि राग होते हुए भी वह उसका कर्त्ता नहीं है। जिससमय रागादिभाव होता है, उसीसमय तत्संबंधी स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से उत्पन्न हो जाता है। काल एक है; तथापि दोनों का भाव भिन्न-भिन्न है। राग का ज्ञान राग की उपस्थिति

के कारण नहीं हुआ है, बल्कि राग के काल में ही स्व-पर को जानने की ज्ञानक्रिया स्वतः अपने निजरस से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान में राग निमित्त है – यह तो कहा; परन्तु राग में ज्ञान का निमित्तपना नहीं कहा।[१]

ज्ञाता के ज्ञानरूप परिणमन के समय रागादिभाव भी होते हैं। चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषायजन्य राग होता है, पाँचवें गुणस्थान में भी प्रत्याख्यान कषायजन्य एवं छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषायजन्य राग होता है; परन्तु ज्ञानी के ज्ञानरूप परिणमन में वह कषायजन्य राग जब ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है, तब उस राग को निमित्त कहा जाता है। ज्ञानी राग में तन्मय नहीं होता और राग ज्ञान में तन्मय नहीं है। ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं है और राग ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय का कर्त्ता नहीं है। ऐसा ही वस्तु का सहज स्वरूप है।

सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार में भी आया है कि केवलज्ञान पर्याय में लोकालोक ज्ञेयरूप निमित्त है और लोकालोक को ज्ञेय बनने में केवलज्ञान ज्ञातारूप निमित्त है। यहाँ निमित्त का क्या अर्थ है? क्या लोकालोक के अस्तित्व से लोकालोक का ज्ञान हुआ है?

नहीं, ऐसा नहीं होता। लोकालोक का ज्ञान अपनी (ज्ञाता की) ज्ञान पर्याय के स्वकाल में अपनी उपादान की योग्यता से स्वतः होता है और उसमें लोकालोक केवल निमित्त होता है।

तथा 'लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है' – ऐसा जो कहा, उसका भी यही अभिप्राय है कि केवलज्ञान में लोकालोक झलका; इसलिए लोकालोक का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि लोकालोक तो अनादि से है और केवलज्ञान तो नया उत्पन्न हुआ है; अतः केवलज्ञान लोकालोक के अस्तित्व का निमित्त कैसे हो सकता है ? भाई ! यहाँ निमित्त का अर्थ यह है कि केवलज्ञान व लोकालोक परस्पर एक-दूसरे का कुछ भी किये बिना मात्र ज्ञाता-ज्ञेय रूप से हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८७-३८८

दूसरी वस्तु निमित्त होती है; परन्तु वह कुछ करती नहीं है, होने और करने में बहुत बड़ा अन्तर है।[१]

प्रश्न – चौथे, पाँचवें व छट्ठे गुणस्थानवालों के चारित्रमोह के उदय से राग-द्वेष हैं; फिर भी आप उन्हें ज्ञाता कहते हो ? वे घमासान युद्ध लड़ते हैं, धंधा -व्यापार करते हैं, शादी-ब्याह करते-कराते हैं, तो उनके राग-द्वेष तो हैं ही ? भरत और बाहुबली, दोनों क्षायिक सम्यग्दृष्टि और तद्भव मोक्षगामी थे, उन दोनों के बीच युद्ध हुआ, भरत ने ९६ हजार शादियाँ भी कीं, तो वे इन राग-द्वेष के परिणामों के कर्त्ता थे या नहीं? क्या उन्हें राग-द्वेष का कर्त्ता नहीं कहा जायेगा ?

उत्तर – नहीं कहा जायेगा; क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले जीवों के श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य का स्वामित्वरूप से कर्त्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। यद्यपि कषाय का परिणमन है; परन्तु वह उदय की बलजोरी से है, वे उसके ज्ञाता ही हैं, इसकारण अज्ञान सम्बन्धी कर्त्तापना उनको नहीं है।

प्रवचनसार में ४७ नयों के प्रकरण में कहा है कि ज्ञानी को जितना राग का परिणमन है, उसका वह स्वयं कर्त्ता है – ऐसा कर्तृनयसे जानता है; परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो दृष्टिप्रधान बात है। दृष्टि की प्रधानता में निश्चय से ज्ञानी को राग का कर्त्तापना नहीं है। जिस अपेक्षा जो बात है, उसी अपेक्षा से उसे यथार्थ समझना चाहिए।[२]

प्रश्न – आपने कहा कि ज्ञानी का कषायरूप परिणमन उदय की बलजोरी से है, तो क्या ज्ञानी की रागरूप परिणति कर्म के कारण है ?

उत्तर – नहीं, भाई ! ऐसा नहीं है। बात यह है कि ज्ञानी को राग की रुचि नहीं है, उसका राग करने का अभिप्राय नहीं है। राग में उसका स्वामित्व नहीं है, तथापि राग होता है; क्योंकि वह भी समय-समय की पर्याय का स्व-कालरूप पर्यायधर्म है तथा वह ज्ञानी जीव के पुरुषार्थ की हीनता का सूचक

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८९
२. वही, पृष्ठ ३९०-३९१

है; परन्तु पर के कारण या कर्म की बलजोरी के कारण नहीं हुआ है। दृष्टि की प्रधानता से राग को पुद्गल का परिणाम कहते हैं और उसी को यहाँ उदय की बलजोरी से होता है – ऐसा कहा है।

ज्ञानी को भी अस्थिरता का परिणमन है। परिणमन की अपेक्षा से उसको इतना कर्त्तापना भी है। प्रवचनसार में ४७ नयों के अधिकार में यह बात कही भी है। अस्थिरता के परिणाम का ज्ञानी कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है; परन्तु दृष्टि की अपेक्षा से उसको शुद्धतारूप ही परिणमन है – ऐसा कहा जाता है; क्योंकि अशुद्धता के परिणाम की उसको रुचि नहीं है। ज्ञानी जानता है कि अपनी कमजोरी से राग परिणाम होता है और राग को भोगता भी है, पर वह उस राग परिणाम को करने लायक (कर्त्तव्य) और भोगने योग्य नहीं मानता, उनमें उपादेय बुद्धि नहीं होती।

ज्ञानी को निमित्त की बलजोरी अर्थात् पुरुषार्थ की कमी के कारण रागरूप परिणमन होने पर भी किंचित् फल होता है, कर्म की तीव्र स्थिति व अनुभाग नहीं पड़ता, अल्पस्थिति व अनुभाग पड़ता है और वह अल्पबन्ध संसार का कारण नहीं होता।

यदि कोई ऐसा मानता हो कि ज्ञानी के राग या दु:ख है ही नहीं, तो यह मान्यता सही नहीं है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश में निहालभाई ने जो यह कहा है कि ज्ञानी को शुभराग धधकती भट्टी जैसा लगता है, वह बात बिल्कुल सही है। चौथे, पाँचवें व छट्ठे गुणस्थान में ज्ञानी को जितना राग है, वह दु:खरूपभाव है, दु:ख के वेदनरूप है। यद्यपि अन्तर आत्मा में अकषायरूप आनन्द का प्रचुर वेदन है; परन्तु साथ में जितना राग है, उतना दु:ख का वेदन भी है – ऐसा ज्ञान यथार्थ जानता है।

केवली भगवान को केवल परिपूर्ण ज्ञान का ही वेदन है और मिथ्यादृष्टि को केवल दु:ख का ही वेदन है तथा समकिती को प्रचुर आनन्द एवं साथ में किञ्चित् दु:ख का भी वेदन है; तथापि दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा

से ज्ञानी को राग नहीं है – ऐसा कहा जाता है। अतः जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे वैसा ही समझना चाहिए।[१]"

इसप्रकार ९५, ९६ एवं ९७ – इन तीन कलशों में यही कहा गया है कि रागादि विकारीभावों में कर्तृत्वबुद्धि होने के कारण मिथ्यादृष्टि जीवों को उनका कर्त्ता कहा गया है; किन्तु रागादिभावों में कर्तृत्वबुद्धि नहीं होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव उन रागादिभावों के कर्त्ता नहीं बनते, सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव से परिणमित होते हैं। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादिभावों के कर्त्ता-धर्त्ता होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव सहज ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टियों को अनंत संसार के कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्मों का बंध होता है और सम्यग्दृष्टियों को उन कर्मों का बंध नहीं होता।

अब आगामी कलश में आचार्यदेव आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जब वस्तुस्थिति इतनी स्पष्ट है; फिर भी न जाने यह मोह क्यों नाचता है?

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि ।
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति -
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥ ९८॥

(हरिगीत)

कर्म में कर्ता नहीं अर कर्म कर्ता में नहीं ।
इसलिए कर्ताकर्म की थिति भी कभी बनती नहीं ॥
कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा ।
साफ है यह बात फिर भी मोह है क्यों नाचता ? ॥९८॥

निश्चयनय से न तो कर्त्ता कर्म में है और न कर्म कर्त्ता में ही है। यदि इसप्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाय तो फिर कर्त्ताकर्म की क्या स्थिति होगी ? अर्थात् जीव और पुद्गल के कर्त्ताकर्मपना कदापि नहीं हो सकेगा।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३९१-३९२

इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है। यद्यपि वस्तु की ऐसी स्थिति एकदम प्रगट है; तथापि अरे! यह मोह नेपथ्य में अत्यन्त वेगपूर्वक क्यों नाच रहा है ? – यह आश्चर्य और खेद की बात है।

पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में यहाँ 'कर्त्ता' शब्द का अर्थ रागादि अशुद्धपरिणाम परिणत अज्ञानी जीव लिया है और 'कर्म' का अर्थ ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत पुद्गलपिण्ड लिया है। इसप्रकार उन्होंने 'कर्त्ता कर्म में नहीं है और कर्म कर्त्ता में नहीं है' का अर्थ यह किया हैं कि इन दोनों में एकपना नहीं है। इसी के आधार पर वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब अज्ञानी जीव और ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल कर्म – दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं तो फिर उनमें परस्पर कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? इसलिए यह वस्तुस्थिति अत्यन्त स्पष्ट ही है कि ज्ञाता ज्ञाता में है और ज्ञानावरणादि कर्म कर्म में है, फिर न जाने अज्ञानी जीवों की मान्यता में यह मोह क्यों नाचता है ? यह बड़े अचम्भे की बात है, इसपर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए।

कविवर पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(छप्पय)

करम पिंड अरु रागभाव मिलि एक हौंहि नहि ।
दोऊ भिन्नसरूप बसहिं दोऊ न जीव महि ।।
करमपिंड पुग्गल विभाव रागादि मूढ़ भ्रम ।
अलख एक पुग्गल अनंत किमि धरहि प्रकृति सम ।।
निज निज विलास जुत जगत महि जथा सहज परिणमहि तिम ।
करतार जीव जड़ करमकौ मोह विकल जन कहहि इम ।।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का पिण्ड और रागादिभावकर्म – ये दो मिलकर एक नहीं होते, भिन्न-भिन्न ही हैं और भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। ये दोनों ही जीव में नहीं हैं, जीव से भिन्न हैं। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म पुद्गलपिंड हैं और रागादिभावकर्म जीव के विभाव हैं। आत्मा एक है और पुद्गल अनंत हैं – दोनों की प्रकृति एक-सी कैसे हो सकती है ?

इस जगत में सभी पदार्थ अपने-अपने में विलसित हो रहे हैं,यथायोग्य सहजभाव से परिणमित हो रहे हैं, फिर भी मोह की मार से विकल लोग ऐसा कहते हैं कि जीव जड़कर्मों का कर्त्ता है। तात्पर्य यह है कि जीव को जड़कर्मों का कर्त्ता कहना मोह में नाचना है।

यद्यपि कलशटीका और नाटक समयसार के कथनों में थोड़ा-बहुत अन्तर दिखाई देता है; तथापि दोनों का निष्कर्ष एक ही है और वह यह कि ज्ञानावरणादि जड़कर्मों का कर्त्ता तो अज्ञानी जीव भी नहीं है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इस छन्द का निष्कर्ष इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

"कर्म तो पुद्गल है, जीव को उसका कर्त्ता कहना असत्य है। उन दोनों में अत्यन्त भेद है, न तो जीव पुद्गल में है और न पुद्गल जीव में; तब फिर उनमें कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये जीव तो ज्ञाता है, सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गलकर्मों का कर्त्ता नहीं है और पुद्गलकर्म हैं, वे पुद्गल ही हैं; ज्ञाता का कर्म नहीं है। आचार्यदेव ने खेदपूर्वक कहा है कि इसप्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं तथापि 'मैं कर्त्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' इसप्रकार अज्ञानी का यह मोह (अज्ञान) क्यों नाच रहा है ?"

इस कलश में भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जो रागादि विकल्प स्वतः स्व-समय में अपनी पर्यायगत योग्यता से होते हैं, उन्हें मैं करता हूँ - ऐसे कर्तृत्वरूप मिथ्यात्व भाव से परिणत हुआ जीव कर्त्ता कहा जाता है। वह कर्त्ता जीव भी जड़ कर्मों को नहीं करता तथा वे जड़-कर्म भी उस कर्त्ता के कर्म (कार्य) नहीं हो सकते; क्योंकि जड़कर्मों का कर्त्ता चेतन नहीं होता।

आत्मा अपने अशुद्ध परिणमन का कर्त्ता तो है; परन्तु जड़कर्मों का कर्त्ता नहीं है तथा जड़कर्म भी अपनी पर्याय के कर्त्ता हैं; परन्तु वे चेतन की पर्याय को नहीं करते - ऐसी स्थिति में दोनों के बीच कर्त्ता-कर्मपना कहाँ रहा ?

भाई ! शरीर, मन, वाणी की क्रिया का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं है; क्योंकि परस्पर द्वन्द है, भिन्नता है। जहाँ भिन्नता है, वहाँ कर्त्ता-कर्म का क्या सम्बन्ध ?

आत्मा अज्ञानभाव से मिथ्यात्व के परिणामों को भी करे और जड़कर्म की पर्याय को भी करे - ऐसी वस्तुस्वरूप की मर्यादा ही नहीं है। इसीप्रकार जड़कर्म अपने जड़कर्म की पर्याय को भी करे और जीव के मिथ्यात्व को भी करे - ऐसी सामर्थ्य भी वस्तु में नहीं है। एक द्रव्य से दूसरा द्रव्य अत्यन्त भिन्न है और भिन्न-भिन्न दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्मपना नहीं होता।

लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि जड़ का कार्य जीव कर सकता है, परन्तु उनका ऐसा मानना भ्रम है। तन-मन-वचन, धन-दौलत आदि सब पुद्गल हैं। आत्मा इन सबसे अत्यन्त भिन्न है, इसकारण जड़-पुद्गल की अवस्था का आत्मा कर्त्ता नहीं है। धन-दौलत कमाना, मकान बनाना आदि कार्य आत्मा के नहीं हैं। हाँ, अज्ञानी द्वारा राग-द्वेष व मिथ्यात्व आदि के जो अज्ञानभाव होते हैं, उन्हें अज्ञानी ने किये - ऐसा कहा जाता है।[१]

अब आचार्य कहते हैं कि ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है। जब पर के कर्तृत्व की बुद्धि छूट जाती है, तब मैं ज्ञायक हूँ - ऐसे ज्ञातापने की दृष्टि खिल जाती है।[२]

पहले यह सिद्ध किया कि जड़कर्म में आत्मा नहीं है और आत्मा के अशुद्ध परिणाम में जड़कर्म नहीं है। फिर बात बदलकर यह कहा कि भगवान आत्मा चिद्रूप है, ज्ञायकरूप है, आनन्दस्वरूप है, ईश्वर है, अपरिमित स्वभावरूप है। उसके स्वभाव की शक्ति बेहद अपरिमित है - ऐसा ज्ञाता सदा ज्ञातास्वभाव में ही रहता है। उसी में अन्तर्दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है, धर्म है।[३]

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में पर की किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं है, व्यवहार की भी अपेक्षा नहीं है। ऐसी वस्तु की मर्यादा प्रगट है; तथापि जीवन के नेपथ्य में यह मोह इतने वेग से क्यों नाच रहा है। आचार्यदेव को स्वयं इसका आश्चर्य है।[४]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३९३
२. वही, पृष्ठ ३९४
३. वही, पृष्ठ ३९५
४. वही, पृष्ठ ३९५-३९६

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि सम्पूर्ण कर्ताकर्माधिकार के मंथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि यद्यपि राग-द्वेष-मोहरूप भावकर्मों का कर्त्ता अज्ञानी आत्मा होता है; तथापि ज्ञानावरणादि जड़कर्मों और शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता तो ज्ञानी व अज्ञानी कोई भी जीव नहीं है। आगम में जहाँ भी आत्मा को जड़कर्मों और नोकर्मों का कर्त्ता कहा गया हो, वह सब असद्भूतव्यवहारनय का उपचरित कथन ही समझना चाहिए।

'वस्तु की स्थिति उक्त कथनानुसार अत्यन्त स्पष्ट होने पर भी अज्ञानियों के परकर्तृत्वसंबंधी मोह न जाने क्यों नाचता है?' - इसप्रकार का आश्चर्य इस ९८ में कलश व्यक्त किया गया है।

इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र इस कलश के उपसंहार और आगामी कलश की उत्थानिका के रूप में एक वाक्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

''**अथवा नानट्यतां तथापि** - अथवा मोह नाचता है तो नाचे, तो भी''

इसका भाव यह है कि मोह नाचता है तो भले ही नाचे; पर उससे वस्तु की स्थिति में तो कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है; क्योंकि वस्तु स्थिति तो जो है सो है। ज्ञानज्योति के जलने पर सबकुछ सहज हो जाता है। 'ज्ञानज्योति के जलने पर क्या होता है' - इसका स्पष्टीकरण आगामी कलश में है।

इसप्रकार आगामी कलश में आचार्यदेव ज्ञानज्योति का स्मरण करते हुए कर्त्ताकर्म अधिकार का समापन करते हैं -

(मन्दाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव ।
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै -
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥ ९९॥

(सवैया इकतीसा)

जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब,
अति गंभीर चित् शक्तियों के भार से ।
अद्भुत अनूपम अचल अभेद ज्योति,
व्यक्त धीर-वीर निर्मल आर-पार से ॥

तब कर्म कर्म नहीं कर्ता कर्ता न रहा,
ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ।
और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से ॥ ९९॥

अचल, व्यक्त और चित्शक्तियों के समूह के भार से अत्यन्त गंभीर यह ज्ञानज्योति अंतरंग में उग्रता से इसप्रकार जाज्वल्यमान हुई कि जो आत्मा अज्ञान अवस्था में कर्त्ता होता था, वह अब कर्त्ता नहीं होता और अज्ञान के निमित्त से जो कार्माणवर्गणारूप पुद्गल कर्मरूप होता था, अब वह कर्मरूप नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा पुद्गल पुद्गलद्रव्य ही रहता है।

'अचल, व्यक्त और चैतन्यशक्तियों के भार से अत्यन्त गंभीर अनन्तगुणात्मक चिन्मात्रज्योति जाज्वल्यमान हुई' – ऐसा कहकर यहाँ चिन्मात्रज्योति में द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों को शामिल कर लिया गया है।

इसप्रकार यहाँ द्रव्य-गुण-पर्यायमय ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है और यह कहा गया है कि जब यह ज्ञानज्योति उच्चता से, उग्रता से जाज्वल्यमान होती है, तब ज्ञान ज्ञानरूप हो जाता है, वह कर्त्ता नहीं बनता और पुद्गल पुद्गल रूप रह जाता है, वह कर्म नहीं बनता। इसप्रकार कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है।

इस कलश के भाव को भावार्थ में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं होता और पुद्गल पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्यों के परिणमन में निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टि के होता है।"

इसप्रकार इस कलश में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सम्यग्ज्ञानज्योति के उदय होने पर आत्मानुभूति होने पर, सम्यग्दर्शन हो जाने पर; परपदार्थ और

रागादिभावों में अपनापन नहीं रहता, स्वामित्व नहीं रहता; कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी नहीं रहता; सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव प्रगट हो जाता है।

यह कर्त्ताकर्म-अधिकार का अन्तिम कलश है। अतः इसमें उस ज्ञानज्योति को पुनः स्मरण किया गया है, जिसका स्मरण प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में किया जाता रहा है। यह अधिकार के अंत का मंगलाचरण है। मंगलाचरण के बारे में कहा गया है कि – '**आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भासितं बुधैः**[१] – विद्वान लोगों ने कहा है कि मंगलाचरण कार्य या ग्रन्थ की आदि, मध्य और अन्त में किया जाना अभीष्ट है।' इसी कथन के अनुसार यह एक प्रकार से कर्त्ताकर्म अधिकार के समापन का मंगलाचरण है।

इस कलश में अचल, व्यक्त और चित्शक्तियों के भार अत्यन्त गंभीर ज्ञानज्योति के स्मरण के साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस ज्ञानज्योति के प्रकाश में अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो गया है, इसकारण अभी तक जो आत्मा रागादि भावों का कर्त्ता बनता था, अब वह कर्त्ता नहीं रहा और अब उसके तत्संबंधी कर्म का बंध भी नहीं होता; अतः कर्म कर्म नहीं रहा, ज्ञान ज्ञानरूप हो गया और पुद्गल कर्म पुद्गल रूप ही रहा। इसप्रकार अज्ञान के नाश होते ही अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का भी अभाव हो गया।

कर्त्ताकर्म अधिकार के आरंभ में ही कहा था कि जबतक अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है, तबतक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है और जब यह अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है तो तत्संबंधी बंध का अभाव भी नियम से हो जाता है। इसी बात को अनेक युक्तियों, आगमप्रमाणों एवं अनुभव के आधार पर सिद्ध कर अब अधिकार के अन्त में उसी का उपसंहार कर रहे हैं।

इस छन्द का भाव पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

---

१. धवला, १-१-१

(छप्पय)

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरममल ।
ग्यान ग्यानरस रमै, होई करमादिक पुदगल ॥
असंख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति ।
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति ॥
जब लगि प्रबोध घटमहि उदित, तब लगि अनय न पेखिये ।
जिमि धरमराज बरतंत पुर, जहं तहं नीति परेखिये ॥

जीव मिथ्यात्वरूप द्रव्यकर्मों को नहीं करता और मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि भ्रमभावों को भी धारण नहीं करता। ज्ञान ज्ञानरस में ही रमता है और ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलरूप ही रहते हैं। तथा धीर-गंभीर स्थिर चैतन्य में विलास करनेवाली निर्मल ज्ञानज्योति पूर्ण शक्ति से आत्मा के असंख्य प्रदेशों में प्रगट रूप से प्रकाशित होती है, अत्यन्त जगमगाती है।

जिसप्रकार जहाँ-जहाँ धर्म का सामाज्य रहता है, वहाँ-वहाँ नीति-न्याय भी दिखाई देता है; उसीप्रकार जबतक हृदय में सम्यग्ज्ञानज्योति उदित है, तबतक अनय (अन्याय-मिथ्यात्व) देखने में नहीं आता।

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"भगवान आत्मा अनन्त चित्शक्तियों के समूह का भण्डार, ज्ञान का गोला, अचल और नित्य चैतन्यधातुमय सदा प्रगट ही है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा इसे अव्यक्त कहा है, परन्तु स्वभाव के सन्मुख जाकर देखने पर तो यह सदा व्यक्त ही है, प्रगट ही है।[१]

भगवान आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की गंभीरता की क्या बात कहें ? वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनंद, अनन्तशान्ति, अनन्तस्वच्छता, अनन्तवीर्य, अनन्तप्रभुता आदि अनन्त चित्शक्तियों के समूह से भरा अत्यन्त गंभीर है। भगवान आत्मा संख्या से तो अनन्त शक्तियों का भंडार है ही, उसकी एक-एक शक्ति का स्वभाव भी अनन्त है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३९८
२. वही, पृष्ठ ३९९

आत्मा चित्शक्तियों से भरा अर्थात् ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूह से भरा, गम्भीर ज्ञानज्योतिस्वरूप वस्तु है। जिनके दो विभाग नहीं हो सकते – ऐसे सूक्ष्म अंश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं। ज्ञानस्वभावी आत्मज्योति ऐसे ही अनन्त अविभागी अंशों का पिण्ड है। जब वह ज्ञानज्योति अंतरंग में उग्रपने जाज्वल्यमान होती है, तो तुरंत ही अज्ञान के कारण अबतक हुए कर्त्तृत्वभाव का अभाव हो जाता है और फिर वह ज्ञानस्वभाव ज्ञानरूप ही रहता है व पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है जो पहले अज्ञान अवस्था में अपनी मिथ्या मान्यता के कारण स्वयं को राग का व पर का कर्त्ता मानते थे, वे ही बाद में जब अपने ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को पहचान लेते हैं, तो पर का व राग का कर्त्तृत्व छोड़कर केवल ज्ञाता-दृष्टा हो जाते हैं तथा राग के निमित्त से जो पुद्गल कर्मरूप होते थे, वे कर्मरूप नहीं होते। ज्ञान ज्ञानरूप रहता है, पुद्गल पुद्गलरूप एवं भगवान चिद्घन चिद्घन ही रहता है। दोनों को भिन्न-भिन्न जानने का नाम ही भेदज्ञान है, उसका फल केवलज्ञान है, सिद्धपद है।[१]''

जिसप्रकार प्रकाश के होने से सभी पदार्थ पृथक्-पृथक् भासित होने लगते हैं; उसीप्रकार ज्ञानज्योति के प्रकाशित होने से ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा ज्ञातारूप भासित होने लगा और जड़ पुद्गल पुद्गलरूप भासित होने लगा; सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव प्रस्फुटित हो गया। – यही कहा गया है इस ९९ कलश में।

इसप्रकार यहाँ कर्त्ता-कर्म-अधिकार समाप्त होता है। इसका समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो अन्तिम वाक्य लिखते हैं, वह इसप्रकार हैं –

''**इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्तौ** – इसप्रकार जीव और अजीव कर्त्ता-कर्म का वेष त्यागकर बाहर निकल गये।''

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि आत्मख्याति में समयसार को नाटक के रूप प्रस्तुत किया गया है। अतः यहाँ इस संबंध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३९९

इस वाक्य का स्पष्टीकरण पंडित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार करते हैं –

"जीव और अजीव दोनों कर्त्ता-कर्म का वेष धारण करके एक होकर रंगभूमि में प्रविष्ट हुए थे। जब सम्यक् दृष्टि ने अपने यथार्थ दर्शन-ज्ञान से उनके भिन्न-भिन्न लक्षण से यह जान लिया कि वे एक नहीं, किन्तु दो अलग-अलग हैं; तब वे वेष का त्याग करके रंगभूमि से बाहर निकल गये।

बहुरूपिया की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जबतक देखने वाले उसे पहिचान नहीं लेते, तबतक वह अपनी चेष्टाएँ किया करता है, किन्तु जब कोई यथार्थ रूप से पहचान लेता है, तब वह निज रूप को प्रगट करके चेष्टा करना छोड़ देता है। इसीप्रकार यहाँ भी समझना।"

यहाँ छाबड़ाजी ने बहुरूपिया का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि कर्त्ता-कर्म के वेष में समागत जीव और अजीव ज्ञानज्योति द्वारा पहिचान लिए जाने से वेष त्यागकर रंगभूमि से बाहर हो गये।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा अपनी भाषा टीका के अन्त में सम्पूर्ण अधिकार की विषयवस्तु को समेटते हुए एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(सवैया तेईसा)

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वने करता सो,
ताकरि बन्धन आन तणूं फल ले सुख-दुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो ।

यह जीव अनादि अज्ञान के वश होकर विकार उत्पन्न करता हुआ पर का करता बनता है, इसकारण इसे बंध होता है और उसके फलस्वरूप संसार में रहता हुआ सुख-दुःख भोगता है। जब इसे सम्यग्ज्ञान होता है, तब यह पर का कर्त्ता नहीं बनता, विकार का कर्त्ता नहीं बनता और इसीकारण बंध भी नहीं होता, यह परपास (पर के बंधन) से मुक्त हो जाता है, मुक्ति को प्राप्त कर लेता है; फिर सदा मुक्ति में ही निवास करता हुआ सदा आत्मा में ही सुविलास करता है, आत्मीक आनन्द को भोगता है।

इसप्रकार इस छन्द में कर्त्ताकर्म-अधिकार की सम्पूर्ण विषयवस्तु को समेटकर अति संक्षेप में प्रभावक ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है।

इसप्रकार कर्तृत्व और भोकृत्व संबंधी अज्ञान को मेटता हुआ, कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव करता हुआ, सम्यग्ज्ञानज्योति को प्रज्वलित करता हुआ यह कर्त्ताकर्म-अधिकार समाप्त होता है। •

अनादिकाल से ही इस आत्मा ने अज्ञानवश इन देहादि संयोगी पदार्थों में एकत्व और ममत्व स्थापित कर रखा है, इनमें ही सुख-दुःख की कल्पना कर रखी है। इस एकत्व, ममत्व और अज्ञान के कारण इन शरीरादि संयोगी पदार्थों के प्रति इसे अनन्त अनुराग बना रहता है। उसी अनुरागवश यह निरन्तर इन्हीं की साज-सँभाल में लगा रहता है।

यद्यपि यह सत्य है कि इसके सँभालने के विकल्पों से देहादि संयोगों के परिणमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, तथापि यह उनकी सँभाल के विकल्पों में स्वयं उलझा ही रहता है, उनके सहज ही अनुकूल परिणमन में प्रसन्न एवं प्रतिकूल परिणमन में खेदखिन्न तो हुआ ही करता है।

समय आने पर जब यह आत्मा जिनागम के अभ्यास एवं सद्‌गुरुओं के सत्समागम से उपलब्ध तत्त्वज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसकर देखता है तो बुद्धि के स्तर पर यह बात समझ में भली-भाँति आने लगती है कि ये देहादि संयोगी पदार्थ अनित्य हैं, अशरण हैं, असार हैं, अत्यन्त अशुचि हैं, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, सुख-दुःख के साथी नहीं हैं – अपने सुख-दुःख स्वयं मुझे अकेले ही भोगने पड़ते हैं।

मैं तो इन शरीरादि संयोगों और इनके निमित्त से होनेवाले संयोगी भावों तथा निज निर्मल पर्यायों एवं गुणभेद से भी भिन्न स्वयं भगवान आत्मा हूँ, अनन्त गुणों का धाम हूँ, अनन्तानन्त शक्तियों का संग्रहालय हूँ, ज्ञान का घनपिण्ड एवं आनन्द का कन्द परमप्रभु परमेश्वर हूँ।

इस विकल्पात्मक सच्ची समझ की अविरल चिन्तनधारा के प्रबल प्रवाह से देहादि संयोगों के प्रति विद्यमान एकत्व, ममत्व एवं अनुराग की पकड़ कुछ ढीली पड़ने लगती है; काल पक जाने पर अन्त में एकसमय ऐसा आता है कि जब यह आत्मा इस चिन्तन-धारा को भी पारकर इन देहादि संयोगों से भिन्न निज भगवान आत्मा का अनुभव करने लगता है, तब अनादिकालीन मिथ्यात्वग्रन्थि को भेदकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है।

– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ९२

पुण्यपापाधिकार

जीवाजीवाधिकार में वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावों से भगवान आत्मा का एकत्व और ममत्व तथा कर्ताकर्माधिकार में उन्हीं भावों से कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व छुड़ाया है।

इसप्रकार अबतक भगवान आत्मा को परपदार्थ और उनके आश्रय से अपने ही आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेषादि भावों से एकत्व, ममत्व, कर्त्तृत्व और भोकृत्व छुड़ाकर आत्मसम्मुख करने का प्रयास किया गया है।

अब इस पुण्यपापाधिकार में यह बताते हैं कि मुक्ति के मार्ग में पाप के समान ही पुण्य भी हेय है।

यद्यपि पापभाव के समान पुण्यभाव भी आत्मा की विकारी पर्याय होने से आत्मा नहीं है, आत्मा से भिन्न है, आस्रवभाव है, बंधभाव है और आत्मा को संसारसागर में डुबाने वाला है; तथापि अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के कारण अज्ञानी जीवों की इसमें उपादेयबुद्धि बनी रहती है, वे इसे सुख का कारण मानते रहते हैं और पुण्यभाव का कर्त्ता बनकर अपने आप को भाग्यवान समझते रहते हैं।

किसी व्यक्ति ने एक मन्दिर बनवाया, एक धर्मशाला बनवाई। वह अपने इस कार्य से अपने को बहुत ही गौरवान्वित अनुभव करता है, स्वयं को उनका कर्त्ता-धर्त्ता मानता है, स्वामी मानता है।

जब उसे यह समझाया जाता है कि यह मन्दिर, यह धर्मशाला न तो आप हैं, न ये आपके हैं और न आप इनके कर्त्ता-धर्त्ता ही हैं; क्योंकि ये तो जड़ हैं, जड़ के परिणमन हैं और आप तो चेतन पदार्थ हो। चेतन जड़ का कर्त्ता-धर्त्ता कैसे हो सकता है? इनका कर्त्ता-धर्त्ता बनने के लिए तो आपको जड़ होना होगा। क्या आप चेतन से जड़ बनना पसन्द करेंगे? यदि नहीं, तो फिर आप इनके कर्त्ता-धर्त्ता कैसे हो सकते हैं ?

आगम के आधार और युक्तियों के प्रबल प्रहार से यह बात उसकी बुद्धि को स्वीकृत हो जाने पर भी, उसका हृदय इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। इसकारण वह किसी न किसी रूप में उनसे चिपटा रहना चाहता है। अतः कहता है कि न सही मैं इनका कर्त्ता-धर्त्ता, पर आप तो यह बताइये न कि यह काम तो अच्छा है न ?

जब आप मन्दिर या धर्मशाला की प्रशंसा करते हैं तो वह मन ही मन सन्तुष्ट होता है और कहने लगता है आपके कहे अनुसार मैं न सही इनका कर्त्ता-धर्त्ता; पर कार्य तो अच्छा ही हुआ है न? इसमें कोई कमी तो नहीं रही मेरी। इसप्रकार प्रकारान्तर से वह स्वयं को इनका कर्त्ता-धर्त्ता मानता रहता है और अच्छे कार्य के बहाने वह अपने परकर्तृत्व को ही पुष्ट करता रहता है।

इसीप्रकार अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के जोर से अज्ञानी जीव आत्मा को बंधन में डालने वाले कर्मों में भी शुभ और अशुभ का भेद करके शुभ को उपादेय मान लेता है, करने योग्य मान लेता है। इसप्रकार शुभ कार्य के बहाने पर का और रागादि का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं को मानता रहता है।

कहता है कि मैं न सही परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता, न सही रागादि का कर्त्ता-भोक्ता; परन्तु पुण्यकार्य और शुभभाव हैं तो अच्छे ही, भले ही न?

इसप्रकार यह अच्छे और भले के बहाने उनमें अपनापन स्थापित करता है तथा न सही मैं इनका कर्त्ता, पर निमित्त तो मैं हूँ ही; इसप्रकार प्रकारान्तर से उनमें कर्त्तापन भी स्थापित कर लेता है।

अज्ञानी जीवों की इसी मान्यता के निराकरण के लिए पुण्य और पाप की समानता बताने वाले इस पुण्यपापाधिकार का जन्म हुआ है। इसप्रकार यह अधिकार भी जीवजीवाधिकार और कर्त्ताकर्माधिकार का पूरक अधिकार ही है; क्योंकि इसमें भी पुण्य-पापकर्मों और पुण्य-पापभावों से आत्मा को भिन्न बताकर उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध करना ही इष्ट है। इसकारण यह एक प्रकार से कर्त्ताकर्म अधिकार का पूरक ही है, परिशिष्ट ही है।

इस अधिकार में 'मुक्ति के मार्ग में पुण्यभाव भी पापभाव के समान हेय ही है' - यह बताया गया है; क्योंकि पुण्यभाव और पापभाव हैं तो आखिर

रागभाव ही और रागभाव होने से दोनों एक ही हैं। यही कारण है कि कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस अधिकार का नाम **'पुण्यपापएकत्वद्वार'** ही रखते हैं तथा इस अधिकार की विषयवस्तु को स्पष्ट करने वाला प्रतिज्ञावाक्य रूप छन्द भी इसप्रकार लिखते हैं –

(दोहा)

करता किरिया करमकौ, प्रगट वखान्यौ मूल ।
अब वरनौं अधिकार यह पाप पुन्न समतूल ॥

कर्त्ता, कर्म और क्रिया का मूल स्वरूप स्पष्ट करके अब पुण्य और पाप को समान बताने वाले इस अधिकार का वर्णन करते हैं।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इस अधिकार की टीका आरंभ करते समय मंगलाचरण के रूप में जो छन्द लिखते हैं, वह इसप्रकार है –

(दोहा)

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि ।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि ॥

जिन जीवों ने पुण्य और पाप – दोनों कर्मों को बन्धरूप और दुष्ट जानकर निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त किया है; हित रूप जानकर मैं उनके चरणों की वन्दना करता हूँ।

इस अधिकार को आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो वाक्य लिखते हैं, वह इसप्रकार है –

"**अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रवशति** – अब एक ही कर्म पुण्य और पाप – इन दो पात्रों के रूप में रंगमंच पर प्रवेश करता है।"

ध्यान रहे यहाँ पात्र (अभिनेता) एक है और उसने रूप दो धारण कर रखे हैं। जिसप्रकार एकपात्रीय नाटकों में एक ही पात्र अनेक रूपों में बात करता है; उसीप्रकार यहाँ एक ही कर्म पुण्य और पाप – इन दो रूपों में प्रस्तुत हो रहा है।

जीवाजीवाधिकार और कर्ताकर्माधिकार में पात्र दो-दो थे और उन्होंने मिलकर एक रूप धारण किया था; पर यहाँ उससे विपरीत पात्र (अभिनेता) एक कर्म है और उसने पुण्य और पाप – ये रूप धारण कर रखे हैं, वह यहाँ डबलरोल में है।

इस अधिकार के मंगलाचरण के रूप में जो छन्द आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में लिखा है, उसकी उत्थानिका लिखते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं –

"जिसप्रकार नृत्यमंच पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है; उसीप्रकार यहाँ यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि वह पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार के रूप धारण करके नाचता है, उसे सम्यग्दृष्टि का यथार्थ ज्ञान एकरूप जान लेता है। उस ज्ञान की महिमा का काव्य इस अधिकार के आरंभ में टीकाकार आचार्य कहते हैं।"

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १००॥

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो ।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो ॥
जब मोहरज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही ।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधानिर्झर ज्ञान ही ॥ १००॥

अब शुभ और अशुभ के भेद से दोपने को प्राप्त उस कर्म को एकरूप करते हुए जिसने मोहरज को अत्यन्त ही दूर कर दिया है; ऐसा यह ज्ञानरूपी सुधाकर स्वयं ही उदय को प्राप्त होता है।

यह पुण्यपापाधिकार के मंगलाचरण का कलश है। इसमें उस सम्यग्ज्ञानज्योति को, ज्ञानसुधाकर को स्मरण किया गया है; जिसने पुण्य-पाप संबंधी अज्ञान का नाश किया है। अज्ञान के कारण पुण्य को भला और पाप को बुरा जाना जाता था, पर इस ज्ञानज्योति के उदय से, इस ज्ञानसुधाकर के

उदय से वह अज्ञान नष्ट हो गया और यह सद्ज्ञान प्रगट हो गया कि पाप के समान ही पुण्य भी मुक्तिमार्ग में हेय ही है।

इस छन्द का भावानुवाद कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(कवित्त मात्रिक)

जाके उदै होत घट-अंतर, बिनसै मोह महातम रोक।
सुभ अरु असुभ करम की दुविधा मिटै सहज दीसै इक थोक ॥
जाकी कला होत संपूरन, प्रतिभासै सब लोक अलोक।
सो प्रबोधससि निरखि बनारसि सीस नवाइ देत पग धोक ॥

हृदय में जिसके उदय होने पर मोहरूपी महाअंधकार नष्ट हो जाता है, शुभ कर्म अच्छा और अशुभ कर्म बुरा – यह दुविधा मिट जाती है और शुभ और अशुभ – दोनों ही कर्म एक से ही दिखाई देने लगते हैं; उस ज्ञानरूपी चन्द्रमा को देखकर बनारसीदासजी मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं।

इस कलश का भावार्थ स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी कलश टीका में लिखते हैं –

"किसी मिथ्यादृष्टि जीव का अभिप्राय ऐसा है – जो दया, व्रत, तप, शील, संयम आदि से देहरूप लेकर जितनी है शुभ क्रिया और शुभ क्रिया के अनुसार है उस रूप जो शुभोपयोग परिणाम तथा उन परिणामों को निमित्त कर बाँधता है जो साताकर्म आदि से लेकर पुण्यरूप पुद्गलपिण्ड, वे भले हैं, जीव को सुखकारी है। हिंसा विषय-कषायरूप जितनी है क्रिया, उस क्रिया के अनुसार अशुभोपयोगरूप संक्लेश परिणाम, उस परिणाम के निमित्त कर होता है जो असाताकर्म आदि से लेकर पापबन्धरूप पुद्गलपण्डि; वे बुरे हैं, जीव को दु:खकर्ता हैं। ऐसा कोई जीव मानता है। उसके प्रति समाधान ऐसा कि जैसे अशुभकर्म जीव को दु:ख करता है; उसीप्रकार शुभकर्म भी जीव को दु:ख करता है। कर्म में तो भला कोई नहीं है। अपने मोह को लिये हुए मिथ्यादृष्टि जीव कर्म को भला करके मानता है। ऐसी भेद प्रतीति शुद्धस्वरूप का अनुभव हुआ तब से पायी जाती है।"

कलश टीका के उक्त कथन में यह स्पष्ट किया गया है कि दया, दान, व्रत, तप, शील, संयम आदि शुभक्रिया व तत्संबंधी शुभभाव और उनके कारण बंधने वाले पुण्य कर्म भले हैं, जीव को सुखकारी हैं – यह मान्यता मिथ्यादृष्टियों की है। सम्यग्ज्ञान होने पर यह मान्यता समाप्त हो जाती है।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"चाहे तीर्थंकर नामक कर्मप्रकृति को बांधने वाला शुभभाव हो या नरकगति कर्म प्रकृति को बाँधनेवाला अशुभ भाव हो – दोनों ही प्रकार के भाव बन्धरूप हैं; अत: दुखरूप ही हैं – ऐसा जानता हुआ सम्यग्ज्ञानी सभी शुभाशुभभावों को एक कर्मरूप ही मानता है, उनमें उसे द्वैत भासित नहीं होता।[१]

भाई ! तू पाप-पुण्य में हेयोपादेयपना मानकर अर्थात् पुण्य को भला व पाप को बुरा मानकर दु:ख के पहाड़ के तले दब गया है। प्रभु ! पुण्य-पाप के दोनों ही भाव स्वयं दु:खरूप हैं तथा दु:ख के कारण हैं, आकुलतामय हैं; क्योंकि दोनों ही भाव स्वभाव से विरुद्धभाव हैं। ऐसे स्वभावविरुद्धभावों में जो न भेद देखकर एक कर्मरूप ही मानता है, उसे पर की अपेक्षा बिना स्वत: सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा उदित होता है।[२]

देखो, पुण्य-पाप के दोनों ही भाव अशान्त हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग अशान्त है, आकुलतामय है। लोगों को यह बात कड़क लगती है; परन्तु इससे क्या हो? पुण्य-पाप से रहित शुद्धज्ञानघन-स्वरूप भगवान आत्मा को निर्मल चैतन्य की परिणति द्वारा ग्रहण करके उस एक का ही अनुभव करना धर्म है, वही वीतरागी शान्ति है।[३]"

इसप्रकार यहाँ पुण्य और पाप में एकत्व स्थापित करने वाले ज्ञानरूपी चन्द्रमा का स्मरण किया गया है, उसे नमस्कार किया गया है।

प्रश्न – यहाँ जिस ज्ञानरूपी चन्द्रमा को नमस्कार किया गया है, उस ज्ञान को केवलज्ञानरूप में लेना या सम्यग्ज्ञानरूप में ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ २
२. वही, पृष्ठ ४
३. वही, पृष्ठ ७

उत्तर – इस सन्दर्भ में कलश ४६ की व्याख्या में विस्तार से प्रकाश डाला गया है, तदनुसार ही यहाँ भी समझना चाहिए। जिन बातों पर वहाँ विचार किया है, वे सब यहाँ भी घटित हो सकती हैं। अतः अच्छा है कि आप उस प्रकरण को एकबार फिर गहराई से देख लें।

मंगलाचरण के उक्त छन्द में यह स्पष्ट किया गया है कि अज्ञान के कारण कर्म में जो शुभ और अशुभ के भेद किये जाते रहे हैं, वे वास्तविक नहीं हैं; इसकारण इन दोनों भेदों में एकता स्थापित करती हुई सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट हुई है।

अब आगामी कलश में उसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं।

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना –
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में ।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में ॥
एक छुए न मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से ।
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से ॥

जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया ।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया ॥
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वां भाई ।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई ॥१०१॥

एक तो ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूर से ही मदिरा का त्याग करता है, उसे छूता तक नहीं और दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' – ऐसा मानकर नित्य मदिरा से स्नान करता है, उसी में डूबा रहता है, उसे पवित्र मानता है। यद्यपि वे दोनों ही शूद्रा के पेट से एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों ही साक्षात् शूद्र हैं; तथापि वे जातिभेद के भ्रम से ऐसा आचरण करते हैं।

उक्त छन्द में शूद्र के जुड़वां बेटों के उदाहरण के माध्यम से पुण्य और पाप की एकता को समझाया गया है।

एक शूद्र महिला के पेट से दो बालक एक साथ (जुड़वां) पैदा हुए। उसने अपने एक बालक को ब्राह्मणी को दे दिया। ब्राह्मणी ने उसे अपने पुत्र के समान ही पाला-पोसा। ब्राह्मणी के यहाँ पलने वाले बालक को यह पता ही न था कि वह शूद्र का बेटा है। वह तो स्वयं को ब्राह्मणपुत्र मानकर ब्राह्मण जैसा पवित्र आचरण पालता था, शराब को हाथ भी नहीं लगाता था।

दूसरा बालक शूद्रा के यहाँ ही बड़ा हुआ। चूँकि शूद्रों के यहाँ शराब सहजभाव से पी जाती है। इसकारण वह प्रतिदिन शराब पीता था।

आचार्यदेव कहते हैं कि यद्यपि वे दोनों सगे जुड़वां भाई हैं; तथापि जातिभेद के भ्रम से उनके आचरण में यह भेद दिखाई देता है।

इसीप्रकार ये पुण्य-पाप भाव भी एक ही जाति के हैं, सगे जुड़वां भाई ही हैं, कर्म के ही भेद हैं, रागभाव के ही भेद हैं; तथापि अज्ञानी भ्रम से पुण्य को भला और पाप को बुरा समझते हैं। उनके इस भ्रम के निवारण के लिए ही यह पुण्य-पाप अधिकार लिखा जा रहा है।

पाण्डे राजमलजी कलश टीका में इस उदाहरण का भावार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसीप्रकार कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ, यतिक्रिया में मग्न होता हुआ, शुद्धोपयोग को नहीं जानता और 'हम तो मुनीश्वर हैं, हमें तो विषय-कषाय निषिद्ध हैं' – ऐसा मानकर विषय-कषाय सामग्री को छोड़कर अपने को धन्य मानता है, मोक्षमार्गी मानता है; किन्तु वह मिथ्यादृष्टि ही है और कर्मबन्ध को करता है। कोई अशुभोपयोगी है, गृहस्थक्रिया में रत है; 'हम तो गृहस्थ हैं, हमें तो विषय-कषाय सेवन योग्य हैं' – ऐसा जानकर विषय-कषाय सेवन करता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, कर्मबन्ध को करता है; क्योंकि कर्मजनित पर्याय मात्र को आपरूप जानता है, जीव के शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग और आत्मानुभव से रहित मुनिजन मुनित्वाभिमान से शुभाचरण पालते हैं और आत्मानुभूति रहित गृहस्थ गृहस्थ

का कर्तव्य समझकर अशुभ आचरण में रत हैं; परन्तु दोनों का आचरण पर्याय (पद) के लक्ष्य से होने से, आत्मा के लक्ष्य से न होने से मात्र बंध का ही कारण है, मुक्ति का कारण नहीं।

उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुये स्वामीजी कहते हैं -

"देखो, कोई एक व्यक्ति तो गृहस्थाश्रम में स्त्री, कुटुम्ब परिवार के साथ रहता हुआ विषय-कषाय का सेवन करता हो और दूसरे ने राजपाट त्यागकर नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण की हो, तो इसप्रकार बाहर से दोनों की प्रवृत्ति स्पष्टतया भिन्न-भिन्न भासित होने से अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि अवश्य ही इन दोनों के अंतरंग में अन्तर होना चाहिए। वह एक को पापी और दूसरे को धर्मात्मा माने बिना नहीं रहेगा।

बापू! जबतक अन्तर्दृष्टि नहीं हुई, दृष्टि में चैतन्य का निधान नहीं आया, आनन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वज्ञस्वभावी प्रभु दृष्टि में नहीं आया; तबतक वस्तुतः कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा, शुभाशुभ दोनों ही भाव मात्र बंध के ही कारणरूप हैं। यद्यपि भले-बुरे दिखाई देते हैं; परन्तु यह तो कोरा भ्रम है। शुभाशुभ प्रवृत्ति के भेद से वे अच्छे या बुरे लगते हैं; परन्तु वास्तव में दोनों ही बंधरूप हैं, दोनों ही संसार हैं, उनमें एक भी मुक्ति का कारण नहीं है।[1]"

उक्त छन्द का भावानुवाद नाटक समयसार में पंडित बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है -

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयौ बांभनकै एक घर राख्यौ है ।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है ॥
तैसे एक वेदनी करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है ।
दुहूँ मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १३

जिसप्रकार किसी चांडालनी ने जुड़वा पुत्र पैदा किये। उनमें से एक पुत्र किसी ब्राह्मणी को गोद दे दिया और एक अपने ही घर पर रखा। ब्राह्मणी के घर पलने से जो पुत्र ब्राह्मण कहलाया, उसने मद्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग कर दिया और जो घर पर रहा, वह चांडाल कहलाया और उसने मद्य-मांसादि पदार्थों का सेवन किया।

इसीप्रकार एक वेदनीय कर्म के दो जुड़वां पुत्र हैं, जिनमें एक का नाम पाप है और दूसरे का नाम पुण्य है। दोनों में ही दौड़-धूप है, दोनों ही कर्मबंध रूप हैं; इसकारण ज्ञानी जीव दोनों में से किसी को भी नहीं चाहते।

देखो, यहाँ पुण्य और पाप - दोनों को ही चांडालनी का पुत्र बताया है और यह भी कहा है कि ब्राह्मणत्व के अभिमान से शुभाचरण करने पर भी जैसे वह चांडालनी का पुत्र ब्राह्मण नहीं हो जाता, चांडाल ही रहता है; उसीप्रकार शुभभाव रूप होने से पुण्य धर्म नहीं हो जाता, कर्म ही रहता है; क्योंकि पुण्य और पाप कर्म के ही भेद हैं, धर्म के नहीं।

पुण्य और पाप की जाति एक है, तथापि आचरण के भेद से अज्ञानियों को जाति भेद का भ्रम हो जाता है और वे उन्हें भिन्न-भिन्न जाति का समझने लगते हैं। भ्रम के नाश होने पर ज्ञानज्योति प्रगट होती है और यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाप के समान ही पुण्य भी मुक्ति मार्ग में हेय ही है। •

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है, उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है।

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है। वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों में अनुभव करता है। अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १२९

समयसार गाथा १४५

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

सुशील हैं शुभ कर्म और अशुभ करम कुशील हैं ।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं? ॥१४५॥

अशुभ कर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है – ऐसा तुम जानते हो, किन्तु जो जीवों को संसार में प्रवेश कराये, वह सुशील कैसे हो सकता है?

गाथा में यह कहा गया है कि लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म सुशील है, अच्छा है, करने योग्य है और अशुभकर्म कुशील है, बुरा है, त्यागने योग्य है; किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि जब शुभ और अशुभ – दोनों ही कर्म होने से संसार के हेतु हैं, संसार-सागर में डुबोने वाले हैं तो फिर उनमें से एक को, शुभ को सुशील कैसे माना जा सकता है? जो संसार में प्रवेश कराये, वह सुशील कैसे हो सकता है?

इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव पहले व्यवहारनय का पक्ष प्रस्तुत करते हुए पुण्य और पाप में चार प्रकार से अन्तर बताते हैं और अन्त में निश्चयनय का पक्ष प्रस्तुत करते हुए उसका सयुक्ति निराकरण करते हैं, जो इसप्रकार है –

''किसी कर्म (पुण्य) में जीव के शुभ परिणाम निमित्त होते हैं और किसी कर्म (पाप) में जीव के अशुभ परिणाम निमित्त होते हैं; इसकारण पुण्य और पाप कर्म के कारणों में भेद है।

कोई कर्म (पुण्य) शुभ पुद्गल परिणाममय होता है और कोई कर्म (पाप) अशुभ पुद्गल परिणाममय होता है; इसकारण पुण्य और पाप कर्म के स्वभाव में भेद होता है।

किसी कर्म (पुण्य) का शुभफलरूप विपाक होता है और किसी कर्म (पाप) का अशुभफलरूप विपाक होता है; इसकारण कर्म के अनुभव (स्वाद) में भेद होता है।

कोई कर्म (पुण्य) शुभ मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म (पाप) अशुभ बंधमार्ग के आश्रित है; इसकारण कर्म के आश्रय में भी भेद है।

इसप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है; तथापि कई लोगों का ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म (पुण्य) शुभ है और कोई कर्म (पाप) अशुभ है; किन्तु उन लोगों का यह पक्ष प्रतिपक्ष सहित है, जिसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

जीवों के शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक ही हैं और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक है और उसके एक होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ या अशुभ फलरूप होने वाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से एक है और उसके एक होने से कर्म के अनुभव (स्वाद) में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ बंधमार्ग केवल पुद्गलमय है; इसकारण वे अनेक (भिन्न-भिन्न) हैं और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय बंधमार्ग के ही आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है; इसकारण कर्म एक ही है।"

इसप्रकार यहाँ पुण्य और पाप में अन्तर है – व्यवहारनय के इस पक्ष को प्रस्तुत कर निश्चयनय द्वारा उसका सयुक्ति खण्डन किया गया है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि आश्रय के प्रकरण में शुभ शब्द प्रयोग शुद्ध के अर्थ में किया गया है।

उक्त टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम और मन्द कषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि शुभपरिणामों के निमित्त से होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषयासक्ति और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयभाव से नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं; इसप्रकार हेतु भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं।

सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र – इन कर्मों के परिणामों (प्रकृति इत्यादि) में तथा चार घातीकर्म, असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र – इन कर्मों के परिणामों (प्रकृति इत्यादि) में भेद है; इसप्रकार स्वभावभेद होने से कर्मों के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।

किसी कर्म के फल का अनुभव सुखरूप और किसी का दुःखरूप है; इसप्रकार अनुभव का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।

कोई कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म बन्धमार्ग के आश्रित है; इसप्रकार आश्रय का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।

इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – ऐसे चार प्रकार से कर्म में भेद होने से कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है – ऐसा कुछ लोगों का पक्ष है।

अब इस भेदपक्ष का निषेध किया जाता है – जीव के शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं, इसलिये कर्म का हेतु एक अज्ञान ही है; अतः कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही हैं; इसलिये कर्म का स्वभाव एक पुद्गलपरिणामरूप ही है; अतः कर्म एक ही है। सुख-दुःखरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं, इसलिये कर्म का अनुभव एक पुद्गलमय ही है; अतः कर्म एक ही है। मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग में, मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है और बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है, इसलिये कर्म का आश्रय मात्र बन्धमार्ग ही है (अर्थात् – कर्म एक बन्धमार्ग के आश्रय से ही होता है – मोक्षमार्ग में नहीं होता); अतः कर्म एक ही है।

इसप्रकार कर्म के शुभाशुभ भेद के पक्ष को गौण करके उसका निषेध किया है; क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है और यदि अभेदपक्ष से देखा जाये तो कर्म एक ही है – दो नहीं।''

प्रश्न – यहाँ बंधमार्ग को केवल पुद्गलपरिणाममय कहा गया है; तो क्या आत्मा में उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभभाव भी पुद्गलपरिणाममय हैं?

उत्तर – इस समस्या का समाधान स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''यहाँ कहते हैं कि मोक्ष का मार्ग केवल जीव के परिणाममय ही है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभाव जीव के परिणाम नहीं, अर्थात् वे पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिये कर्म का आश्रय केवल बंधमार्ग ही है।

जिस निर्मल रत्नत्रय को यहाँ समयसार में जीव का परिणाम कहा, उसे ही नियमसार में परद्रव्य कहा, सो वहाँ वह दूसरी अपेक्षा से कहा है। जैसे परद्रव्य में से जीव की नवीन पर्याय नहीं आती; उसीतरह मोक्षमार्ग की पर्याय में से नवीन पर्याय नहीं आती। नवीन पर्याय उत्पन्न होने का भंडार तो त्रिकाली द्रव्य है। वहाँ द्रव्य का आश्रय करवाने के प्रयोजन से त्रिकाल द्रव्य को स्वद्रव्य कहा और निश्चय मोक्षमार्ग के परिणाम को परद्रव्य कहा है।

यहाँ इस मोक्षमार्ग के परिणाम को जीव का कहा है और शुभाशुभ भावों को पुद्गल में डाला है तथा तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथमसूत्र में शुभाशुभ भावों को जीव के स्व-तत्त्व कहे हैं – पांचों ही भावों को जीवतत्त्व कहा है। वहाँ यह अपेक्षा है कि शुभाशुभभाव जीव की पर्याय में ही होते हैं; इसलिये उन्हें जीवतत्त्व कहा है। वह व्यवहारनय, पर्यायनय का ग्रन्थ है न ? अतः उसमें व्यवहारनय से शुभाशुभ भावों को जीव का कहा है। जबकि यहाँ राग-द्वेषरूप शुभाशुभ परिणामों को अज्ञानमय होने से जीव के न कहकर पुद्गलमय परिणाम कहा है।

देखो आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव आचार्य श्री उमास्वामी के गुरु थे। गुरु शुभाशुभ भावों को पुद्गल का कहते हैं और शिष्य उन्हें जीवतत्त्व कहते हैं; तो क्या उनमें परस्पर मतभेद था?

नहीं भाई! उनमें कहीं कोई विरोध नहीं है। गुरु का कथन निश्चयनय के आश्रय से है और शिष्य का कथन व्यवहारनय के आश्रय से है। दोनों की अपेक्षायें भिन्न-भिन्न हैं। जिनवाणी में जहाँ जो नय-विवक्षा हो, उसे उसी विवक्षा से समझना चाहिये। **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** - यह जो सूत्र है, यह पर्यायार्थिकनय का कथन है, निश्चयनय का नहीं। निश्चयनय से तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रयरूप एक ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम जिन्हें यहाँ जीव के परिणाम कहे, वे भेदरूप पर्यायार्थिकनय के कथन हैं। प्रवचनसार गाथा २४२ में आता है कि 'वे भेदात्मक होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं - ऐसा पर्यायप्रधान व्यवहारनय से उसका प्रज्ञापन है, वह मोक्षमार्ग अभेदात्मक होने से एकाग्रता मोक्षमार्ग है' - ऐसा द्रव्यप्रधान निश्चयनय से उसका प्रज्ञापन है।'

समयसार कलश टीका कलश १६ में कहा है कि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जो निर्मल परिणाम हैं; वे भेद हैं, पर्याय हैं; अतः मेचक हैं, मलिन हैं और इसकारण व्यवहार हैं तथा अभेद से जो आत्मा एकस्वरूप है, वह अमेचक है, निर्मल है। भाई, शैली तो देखो! कहाँ क्या कहा है - इसकी खबर बिना एकान्त से खेंचातानी करे तो नहीं चलेगी। कलश टीकाकार ने मोक्षमार्ग के परिणाम को भेदरूप होने से मेचक कहा और सम्यग्ज्ञानदीपिका में श्री धर्मदासजी क्षुल्लक ने इसी को अशुद्ध कहा है। मोक्ष के परिणाम भेदरूप हैं, मेचक हैं; अतः अशुद्ध हैं।

यहाँ कहते हैं कि मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही हैं। यह अभेद से बात कही है तथा बंधमार्ग केवल पुद्गल के ही परिणाममय हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म एक बंधमार्ग के आश्रय से ही होता है, मोक्षमार्ग में नहीं होता; अतः कर्म एक ही है। इसप्रकार कर्म के शुभाशुभ भेदरूप पक्ष को गौण करके उसका निषेध किया है।

गजब की भाषा है 'गौण करके' कहा, तात्पर्य यह है कि भेद है तो अवश्य; परन्तु केवल अभेद की दृष्टि कराने के लिये भेद को गौण किया है। भेद का

ज्ञान कराने के लिये तो भेद है ही; परन्तु फिर भी उसका निषेध जो किया, उसका हेतु अभेद पक्ष को प्रधान करना ही है। दृष्टि के विषय में पुण्य-पाप का पक्ष नहीं है, इसकारण अभेद पक्ष से देखने पर तो कर्म एक ही है, दो नहीं। इस तरह भेद का निषेध करके स्वभाव का आश्रय कराया है।[1]"

जो बात टीका में कही गई है, अब उसी बात को कलश के माध्यम से कहते हैं –

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥

(रोला)

अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है ।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है ॥
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है ।
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है ॥१०२॥

हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – इन चारों का सदा ही अभेद होने से कर्म (पुण्य-पाप) में निश्चय से भेद नहीं है। इसलिए निश्चय से समस्त कर्म (पुण्य-पाप) बंधमार्ग के आश्रित हैं और बंध के कारण हैं; इसकारण कर्म एक ही माना गया है, मानना योग्य है।

इस कलश का अर्थ कलशटीका में विस्तार से किया गया है। आत्मख्याति टीका, कलश और कलश टीका – इन तीनों को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में तीन छन्दों की रचना की है, जिनमें एक चौपाई और दो इकतीसा सवैया हैं। आरंभिक दो छन्दों में शिष्य की ओर से सतर्क प्रश्न उपस्थित किया गया है और अन्तिम छन्द में उत्तर दिया गया है, समाधान किया गया है; जिसके पढ़ने से सम्पूर्ण विषयवस्तु सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ३२-३३

(चौपाई)

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं, पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं।
कारण रस सुभाव फल न्यारे, एक अनिष्ट लगै इक प्यारे॥

(सवैया इकतीसा)

संकलेस परिनामनिसौं पाप बंध होइ,
विसुद्धसौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानियै।
पाप के उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रसभेद जानियै॥
पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूँकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै।
पापसौं कुगति होई पुन्नसौं सुगति होई,
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै॥

पाप बंध पुन्न बंध दुहूँमैं मुकति नाहिं,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए।
संकलेश विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजाल मैं विसेखिए॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैतभाव ग्यानदृष्टिमैं न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारगमैं देखिए॥

गुरुजी के चरणों के समीप जाकर कोई शिष्य कहता है कि पाप और पुण्य – दोनों समान नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल जुदे-जुदे हैं। एक का कारण, रस, स्वभाव और फल अनिष्ट लगता है और दूसरे का अच्छा लगता है। संक्लेश परिणामों से पाप बंध होता है और विशुद्ध परिणामों से पुण्य बंध होता है। इसप्रकार दोनों में हेतुभेद माना गया है। पाप के उदय में असाता की प्राप्ति होती है और उसका स्वाद कड़वा होता है तथा पुण्य के उदय में साता की प्राप्ति होती है और उसका स्वाद (रस) मीठा होता है। इसप्रकार दोनों रसभेद जानना चाहिए। पाप संक्लेश रूप है और

पुण्य विशुद्धरूप है। इसप्रकार दोनों में स्वभावभेद भी कहा गया। पाप से कुगति की प्राप्ति होती है और पुण्य से सुगति की प्राप्ति होती है। इसप्रकार फलभेद भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

इसका समाधान करते हुए कवि कहते हैं कि पापबंध और पुण्यबंध दोनों में मुक्ति नहीं है। कड़वा और मीठा स्वाद भी पुद्गल में देखा जाता है। परिणामों का संक्लेशरूप होना और विशुद्ध होना – यह तो कर्म की सहज चाल है तथा कुगति और सुगति दोनों संसार में ही तो हैं, जगत के जाल ही में तो हैं। हे अज्ञानी जीव! तुझे पुण्य-पाप में जो कारणादि भेद दिखाई देते हैं, वह सब मिथ्यात्व का ही प्रभाव है; क्योंकि इसप्रकार का द्वैतभाव ज्ञानियों की दृष्टि में तो दिखाई ही नहीं देता। पुण्य व पाप दोनों बड़े अंधे कुआ हैं, दोनों ही कर्मबंधरूप हैं; मुक्ति के मार्ग में तो दोनों का ही नाश देखने में आता है।

इस कलश पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''देखो, वर्तमान में कुछ विद्वानों द्वारा ऐसा कहा जाता है कि ये बाह्य व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि जो व्यवहाररूप शुभ आचरण है, उससे शुद्धता प्रगट होती है। उनके उक्त कथन का इस कलश में स्पष्ट खुलासा है।

'अशुभभाव से शुद्धता नहीं होती' – यह तो यथार्थ और सर्वमान्य तथ्य है ही, परन्तु जो शुभभाव के काल में शुभभावों से शुद्धता होना मानते हैं, उनका मानना भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि शुभभाव भी अशुभ की तरह ही अशुद्ध हैं।

इस कथन के संदर्भ में व्यवहारी जनों का एक प्रश्न यह भी है कि सम्यग्दर्शनरूप निर्विकल्प अनुभव के पहले जो अन्तिम शुभभाव होता है, वह शुभभाव शुद्धभाव का कारण है कि नहीं?

इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि भाई, उस अन्तिम शुभभाव का भी अभाव होकर सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प अनुभूति होती है, शुभभाव से नहीं। शुभभाव तो विभावस्वभाव है, जड़स्वभाव है; चैतन्यस्वभाव नहीं है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ३४

यहाँ कहते हैं कि शुभ व अशुभ – दोनों ही भाव बन्धन के कारणरूप अशुद्ध भाव हैं, स्वभाव से विपरीत विभाव भाव हैं। भाई! स्वभाव के सन्मुखता का भाव तो शुद्ध चैतन्यमय होता है और ये दोनों भाव चैतन्यरहित अज्ञानमय भाव हैं, इसलिये दोनों ही भेदरहित एक ही जाति के हैं।

प्रश्न : क्या मुक्तिमार्ग में व्यवहार का कोई स्थान ही नहीं है?

उत्तर : मुक्तिमार्ग में भूमिकानुसार व्यवहार होता तो अवश्य है; व्यवहार होता ही न हो, ऐसा नहीं है; परन्तु व्यवहार से – शुभराग से सम्यग्दर्शन या निश्चय मोक्षमार्ग मानना यथार्थ नहीं है।[१]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि टीका और कलश दोनों में ही यह सिद्ध किया गया है कि कारण, स्वभाव, अनुभव और आश्रय–इन चारों की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में पुण्य और पाप–दोनों ही समान रूप से हेय ही हैं। ●

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ३५

उन रत्नत्रय के धनी परम वीतरागी नग्न–दिगम्बर भावलिंगी सन्तों के प्रति यदि हमारे हृदय में रंचमात्र भी अवज्ञा का भाव रहा तो हम मुक्तिमार्ग से बहुत दूर रहेंगे तथा साथ ही जिनागम में वर्णित गुरु के स्वरूप के अनुरूप जो श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के धारक नहीं हैं, यदि हमने उन्हें भय, आशा, स्नेह और लोभादिक के कारण गुरु के समान पूजा, पूज्य माना, तब भी हम मुक्तिमार्ग के समीप नहीं आ सकेंगे।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १२६

समयसार गाथा १४६ से १४९

अब इसी बात को आगामी गाथाओं में उदाहरण से समझाते हैं –

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥
जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ॥१४९॥

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥१४६॥
दु:शील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो ।
दु:शील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ॥१४७॥
जगतजन जिसतरह कुत्सितशील जन को जानकर ।
उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते ॥१४८॥
बस उसतरह ही कर्म कुत्सित शील है – यह जानकर ।
निजभावरत जन कर्म से संसर्ग को हैं त्यागते ॥१४९॥

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी के समान ही सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है; उसीप्रकार अशुभ कर्म के समान ही शुभकर्म भी जीव को बाँधता है।

इसलिए इन दोनों कुशीलों के साथ राग और संसर्ग मत करो; क्योंकि कुशील के साथ राग और संसर्ग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

जिसप्रकार कोई पुरुष कुशील पुरुष को जानकर उसके साथ राग करना और संसर्ग करना छोड़ देता है; उसीप्रकार स्वभाव में रत पुरुष कर्मप्रकृति के कुत्सितशील (कुशील) को जानकर संसर्ग करना छोड़ देते हैं।

* इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार सोने और लोहे की बेड़ी बिना किसी अन्तर के पुरुष को बाँधती हैं; क्योंकि बन्धन की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है। उसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी अन्तर के जीव को बाँधते हैं; क्योंकि बंधभाव की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है।

जिसप्रकार मनोरम हो या अमनोरम, पर कुशील हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ राग और संसर्ग करना हाथी के लिए बन्धन का कारण होता है; उसीप्रकार शुभ हों या अशुभ, पर कुशील कर्मों के साथ राग और संसर्ग करना जीव के लिए बंधन का कारण होता है। इसकारण यहाँ शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग करने का निषेध किया गया है।

जिसप्रकार कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बंधन के लिए निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता; उसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बंध के लिए समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।"

उक्त कथन के भाव को सरल भाषा में प्रस्तुत करते हुए पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"हाथी को पकड़ने के लिए हथिनी रखी जाती है। हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनी रूपी कुट्टनी के साथ राग तथा संसर्ग करता है; इसलिए वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुख भोगता है। जो हाथी चतुर होता है, वह उस हथिनी के साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

इसीप्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझ कर, उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं; इसलिए वे बंध में पड़कर पराधीन बनकर संसार के दुःख भोगते हैं और जो ज्ञानी होता है, वह उसके साथ कभी राग व संसर्ग नहीं करता।"

जंगली हाथियों को पकड़ने के लिए जंगल में एक बहुत बड़ा गहरा गढ्ढा खोदा जाता है। उसे ढककर ऊपर मिट्टी डालकर दूब-घास और झाड़ियाँ डाल दी जाती हैं, जिससे ठोस जमीन ही प्रतीत हो। जंगली हाथियों को फँसाने के लिए एक चतुर हथिनी को प्रशिक्षित (ट्रेन्ड) करते हैं। वह हथिनी अपनी कामुक चेष्टाओं से जंगली हाथियों को आकर्षित करती है, मोहित करती है और अपने पीछे-पीछे आने के लिए प्रेरित करती है। उनसे नाना प्रकार की क्रीड़ायें करती हुई वह हथिनी उन्हें उस गढ्ढे के समीप लाती है। तेजी से भागती हुई वह कुट्टनी हथिनी तो जानकार होने से उस गढ्ढे से बचकर निकल जाती है, पर तेजी से पीछा करने वाला कामुक हाथी भागता हुआ उस गढ्ढे में गिर जाता है। इसप्रकार अपनी स्वाधीनता खो देता है, बंधन में पड़ जाता है। वह कुट्टनी हथिनी चाहे सुन्दर हो, चाहे कुरूप हो; पर उसके मोह में पड़ने वाला हाथी बंधन को प्राप्त होता ही है।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ यह समझाया जा रहा है कि कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हों या पापरूप; उनसे राग करने वाले, उन्हें करने योग्य मानने वाले, उन्हें उपादेय मानने वाले संसाररूपी गढ्ढे में गिरते हैं, फंसते हैं, बंधन को प्राप्त होते हैं। अतः कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हो या पापरूप – दोनों से ही राग व संसर्ग नहीं करना चाहिए, उन्हें उपादेय नहीं मानना चाहिए।

मोही हाथी के कुरुप हथिनी की अपेक्षा सुरुप (सुन्दर) हथिनी पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण उक्त कुट्टनी हथिनी का कुरुप होने की अपेक्षा सुरुप होना अधिक खतरनाक है। उसीप्रकार मोही जीव के पापकर्मों की अपेक्षा पुण्यकर्मों पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण पुण्य के सन्दर्भ में अधिक सावधानी अपेक्षित है।

उक्त गाथाओं का मर्म खोलते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''देखो, यहाँ स्पष्ट कहा है कि शुभ व अशुभ – दोनों ही कर्म कुशील हैं और निज चैतन्य स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता सुशील है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि निज ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान व

रमणतारूप निर्मल शान्त वीतरागी परिणति को छोड़कर जो दया, दानादिक के शुभभाव होते हैं, उन्हें भी यहाँ कुशील कहा है। बात थोड़ी कड़क है, किन्तु सत्य है; क्योंकि यह जीव की स्वभावमय शुद्ध परिणति नहीं है।[1]

इन व्रत, नियम, शील, तप आदि में जो तप कहा गया है, उसमें ध्यान नामक अंतरंग तप भी आ गया। विकल्परूप ध्यान भी शुभकर्म होने से कुशील है – ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। वास्तविक ध्यान तो शुद्धस्वरूप में एकाग्र होकर ठहरना है, परन्तु जिसे आत्मा की प्रतीति ही नहीं हुई हो, वह कहाँ/किसमें ठहरेगा? अपना आत्मा जो ध्रुव नित्यानन्द चिदानन्दस्वरूप है, जब वह अभी अनुभव में, वेदन में या दृष्टि में ही नहीं आया; तो उसमें मग्न होकर ठहरने रूप ध्यान कहाँ से होगा? बापू! ध्यान के ये बाह्य विकल्प हैं, ये तो राग है; अतः कुशील हैं, बंधन के कारण हैं।[2]

'उदय में आती हुई – समीप में आती हुई कर्मप्रकृति' का आशय यह है कि शुभकर्म के उदय में शुभभाव होता है और अशुभकर्म के उदय में अशुभभाव होता है – इसे ही कर्मप्रकृति का समीप आना कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ प्रकृति के उदय के काल में जो शुभाशुभभाव होते हैं, उन्हें ज्ञानी जीव बुरा जानते हैं तथा उन्हें बुरा जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करते।

यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो जड़ कर्म की बात है, शुभाशुभ भाव की नहीं; परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। १५३वीं गाथा की टीका में बताया है कि व्रत, तप, नियम, शीलादि सब शुभकर्म हैं। रागरूपी कार्य को वहाँ शुभकर्म कहा है, जड़कर्म तो इनसे भिन्न ही हैं। भावकर्म का निमित्त जो कर्मप्रकृति, उनके उदय में आने पर जो शुभाशुभभाव होते हैं, उन्हें ज्ञानी बुरा जानते हैं, जड़ कर्मप्रकृतियों को नहीं। १४५वीं गाथा में भी कर्म शब्द है। उसके टीका में जो चार अर्थ किये हैं, उनमें एक अर्थ जड़कर्म का हेतु जो शुभाशुभभाव उसे ही कर्मरूप से ग्रहण किया है।[3]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ४९

२. वही, पृष्ठ ५१-५२

३. वही, पृष्ठ ५८

शुभाशुभभाव को बुरा जानकर यह कहने का भाव ही यह है कि ये भाव होते तो अवश्य हैं, यदि होते ही नहीं, तब तो वर्तमान में ही वीतरागी ठहरे, किन्तु ऐसा तो है नहीं। ज्ञानी विद्यमान शुभाशुभभावों को बुरा (अहितरूप) जानकर, उनसे एकत्व नहीं करता।

'परमार्थ से बुरा जानकर' इस कथन का यदि कोई यह अर्थ करे कि 'व्यवहार से ठीक मानकर' तो यह अर्थ भी ठीक नहीं है। शुभ को तो व्यवहार से ठीक कहा जाता है; परन्तु अशुभ को व्यवहार से भी ठीक नहीं कहा जा सकता। बन्धन की अपेक्षा तो दोनों एक समान ही बुरे हैं। व्यवहार से ठीक कहने का अर्थ ही यह है कि परमार्थ से ठीक नहीं है। इसकारण यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी शुभाशुभभाव के साथ राग अर्थात् अन्दर ही अन्दर चित्त में प्रीति नहीं करते तथा संसर्ग अर्थात् वाणी द्वारा प्रशंसा व काया द्वारा संकेतों से या हाथ वगैरह की चेष्टा से 'ये भाव ठीक हैं' – ऐसा व्यक्त नहीं करते।[१]

इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव को छोड़कर अशुभभाव करना चाहिए। भाई! तुझे जो अनादि की शुभ की रुचि है, उसका त्याग कर दे; क्योंकि शुभभाव से धर्म होता है व शुभभाव धर्म है – यह मान्यता विपरीत है, मिथ्यात्व की शल्य है।[२]"

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का अर्थ लिखते हुए लिखते हैं –

"रूपलावण्य, सौभाग्य; कामदेव, इन्द्र, अहमिन्द्र; ख्याति, लाभ और पूजादि की भावना से, भोगों की आकांक्षा एवं निदान से जो व्यक्ति व्रत, तपश्चरण, दान, पूजादि करता है; वह पुरुष व्रतादिक को उसीप्रकार व्यर्थ खोता है, जिसप्रकार कोई व्यक्ति छाछ के लिए रत्न बेचता है, राख (भस्म) के लिए रत्नराशि को जलाता है, डोरे के लिए मोतियों के हार को पीस देता है, कोदों (कोद्रव) नाम के अति तुच्छ अनाज के उत्पादन के लिए अगर चन्दन के वन को काटता है; किन्तु शुद्धात्मानुभूति की साधना के लिए जो बाह्य व्रत,

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ५९
२. वही, पृष्ठ ६१

तप, दान और पूजादिक करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता है – ऐसा भावार्थ है।

इसलिए कुशीलवाले शुभाशुभकर्मों के साथ मानसिक राग मत करो और बहिरंग वचन-कायगत संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से अपनी स्वतंत्रता का, निर्विकल्प समाधि का, प्रयोजनभूत कार्य का और स्वाधीन आत्मसुख का नाश नियम से होता है।''

आचार्यदेव के उक्त आदेश के बाद ऐसा कौन है जो शुभाशुभभावों को और पुण्य-पापकर्मों को उपादेय मानेगा, मुक्ति का मार्ग मानेगा? •

स्वभाव के सामर्थ्य को देख !

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतनतत्त्व है। यद्यपि उस चेतनतत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगें उठती रहती हैं; तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परमपदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होनेवाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परमपदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया, वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अत: हे मृगराज ! तुझे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

हे मृगराज ! तू पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य की ओर देख !

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ४७

समयसार गाथा – १५०

'सभीप्रकार का रागभाव बंध का कारण है' इस बात को युक्ति से सिद्ध करने के उपरान्त अब इसी बात की पुष्टि आगम से करते हैं। इस १५०वीं गाथा की उत्थानिका आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार लिखते हैं –

"**अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति** – अब यह बात आगम से सिद्ध करते हैं कि दोनों ही प्रकार के कर्म बंध के कारण हैं; इसकारण निषेध्य हैं।"

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधे कर्म को ।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ॥१५०॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है; – यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, इसलिए कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) से राग मत करो।

इस महत्वपूर्ण गाथा की टीका आचार्य अमृतचन्द्र अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार लिखते हैं –

"रागी जीव कर्म बाँधता है वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है – यह आगमवचन सामान्यपने रागीपन की निमित्तता से शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बंध का कारणरूप सिद्ध करता है और इसी कारण दोनों कर्मों का निषेध करता है।"

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को विशेष खुलासा करते हुए तात्पर्यवृत्ति में कहते हैं कि शुभ और अशुभ – दोनों ही भाव न केवल बंध के ही हेतु हैं; अपितु हेय हैं, त्याज्य हैं, निषेध करने योग्य है।

इसके बाद वे पुण्य-पापाधिकार की अबतक की छह गाथाओं का उपसंहार करते हुए नयविभाग को स्पष्ट कर देते हैं, जो इसप्रकार है –

"यद्यपि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यपुण्यपापों में भेद है और अशुद्धनिश्चयनय से उन दोनों से उत्पन्न इन्द्रियजन्य सुख-दु:ख में भी भेद है; तथापि शुद्धनिश्चयनय से पुण्य-पाप में और उनसे उत्पन्न होने वाले इन्द्रियजन्य सुख-दु:ख में कोई भेद नहीं है।"

प्रश्न : उत्थानिका में कहा गया था कि शुभ और अशुभ दोनों ही भाव कर्म बंध के कारण हैं – इस बात को अब आगम से सिद्ध करते हैं; किन्तु गाथा में किसी आगम वाक्य को प्रस्तुत न करके मात्र इतना ही कहा है कि 'रागी जीव बँधता है और विरागी मुक्त होता है – ऐसा जिनोपदेश है।' इसका क्या कारण है?

उत्तर : अरे भाई! जिनोपदेश ही तो आगम है। अत: इतना कहना ही पर्याप्त है।

प्रश्न : आगम का प्रमाण भी तो देना चाहिए था?

उत्तर : एक बात तो यह है कि आगम का उक्त कथन तत्कालीन समाज में सर्वजनप्रसिद्ध होने से किसी ग्रन्थ विशेष के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं थी; और दूसरी बात यह भी तो है कि तत्कालीन युग में आगम को लिखित रूप दिया जाना आरंभ ही हुआ था, अधिकांश आगम मौखिक ही चल रहा था। अत: 'ऐसा जिनोपदेश है' – इतना लिखना ही पर्याप्त था।

'रागी जीव कर्म बाँधता है' इस वाक्य में समागत 'रागी' शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यहाँ अस्थिरता जनित राग की बात नहीं है, यहाँ तो जिसको राग में एकत्वबुद्धि है, अहंबुद्धि है; उस मिथ्यादृष्टि को रागी कहा है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को भी अस्थिरता के कारण राग होता है; परन्तु वह राग में अनुरक्त नहीं होता, रुचिवन्त नहीं होता; इसकारण वह विरागी है।[1]

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ६३

सामान्यरूप से दशवें गुणस्थान तक राग रहता है, इस अपेक्षा से वहाँ तक भी जीव रागी कहलाता है; परन्तु यहाँ वह अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो जिसको राग से प्रेम है, राग में स्वामीपना है व शुभराग में धर्मबुद्धि है, उसे राग-रक्त अर्थात् रागी कहा है।[१]

स्त्री-पुत्र, दुकान-धन्धा आदि बाह्य सामग्री छोड़ देने मात्र से कोई वैरागी नहीं कहा जा सकता। यहाँ तो यह कहा है कि जिसके अन्तर में से राग की, पर की रुचि छूट गई है और जिसको आनन्द के साथ वीतराग-स्वभावी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि, रुचि, ज्ञान व अनुभव हुआ है – वही विरक्त अर्थात् विरागी है, वही कर्म से छूटता है, – ऐसा आगम वचन है।[२]

कुछ लोग कहते हैं कि जो केवले अशुभ राग में रचे-पचे रहते हैं, उनको शुभराग करने को कहें तो क्या बाधा है?

भाई! शुभराग कोई नवीन वस्तु नहीं है। अनादि से यह शुभाशुभ भाव तो करता ही आया है। जब निगोद में था, तब भी शुभाशुभ भाव के परिणाम होते थे। करणानुयोग के कथनानुसार सभी जीवों को क्षण-क्षण शुभाशुभ भाव झूले के झूलने की तरह होते ही रहते हैं। आज भी निगोद में ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्होंने आज तक कभी भी त्रस पर्याय नहीं पाई, उन्हें भी क्रमशः शुभाशुभभाव होते ही रहते हैं। सभी जीवों को शुभाशुभ भावों की धारा निरन्तर चालू रहती है। वहाँ यद्यपि दया, दान, पूजा-भक्ति आदि क्रियायें नहीं हैं, परन्तु शुभ व अशुभ भाव तो वहाँ भी हुआ ही करते हैं।

इस तरह आचार्य कहते हैं कि भाई! शुभाशुभ भाव कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। आत्मभान बिना अज्ञानी ने नववें ग्रैवेयक तक जाने योग्य शुक्ललेश्या के शुभभाव भी अनंत बार किये हैं, परन्तु उनसे क्या लाभ हुआ? रंचमात्र भी दुःख कम नहीं हुआ।

शुभभाव से पुण्य बंधा, मनुष्य पर्याय मिली, मनुष्य पर्याय में धर्म सुनने-समझने का अवसर मिला – यह लाभ तो शुभभाव से ही हुआ न ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ६३

२. वही, पृष्ठ ६३-६४

बापू! ऐसा अवसर तो अनंतबार मिला, परन्तु राग का प्रेम छूटे बिना सब सुना-सुनाया, करा-कराया निरर्थक ही रहा; क्योंकि चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य तो एक वीतरागता ही है। शास्त्र सुनकर भी यदि राग की रुचि नहीं छूटी और स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई तो शास्त्र का मूल तात्पर्य नहीं जाना।[१]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यहाँ रागी शब्द का अर्थ सामान्य राग नहीं लेना, अपितु शुभाशुभराग में एकत्व-ममत्व बुद्धिरूप राग लेना चाहिए, रागभावों का स्वयं को कर्ता-भोक्ता माननेरूप राग लेना चाहिए तथा शुभभावों में धर्म माननेरूप राग लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व संबंधी राग लेना चाहिए। शुभराग को धर्म मानना ही मिथ्यात्व है और उसी को यहाँ राग कहा गया है। ऐसे राग से संयुक्त जीव रागी है तथा वही कर्मों को बाँधता है और कर्मों से बंधता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अशुभभावों के समान शुभभाव भी बंध के कारण होने से मोक्ष के हेतु नहीं हैं; मोक्ष का हेतु तो एकमात्र वीतरागभाव ही है, ज्ञानभाव ही है।

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसी भाव के पोषक दो कलश लिखते हैं, जो इसप्रकार है :-

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह बंध करे सब कर्म ।
मुक्तिहेतु बस एक ही आत्मज्ञानमय धर्म ॥१०३॥

सर्वज्ञदेव समस्त शुभाशुभ कर्मों को समान रूप से ही बंध का कारण कहते हैं; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने समस्त शुभाशुभकर्मों का ही निषेध किया है और ज्ञान को मुक्ति का हेतु कहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ६४-६५

कविवर पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छोटे से छन्द का इकतीसा सवैया जैसे बड़े छन्द में भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(इकतीसा सवैया)

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषै-भोग है ।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल,
वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है ॥
ऐसी बंध पद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरम मैं करम त्याग-जोग है ।
भौ-जल-तरैया राग-द्वेष कौ हरैया महा,
मोख को करैया एक सुद्ध उपयोग है ॥

शील, तप, संयम, व्रत, दान और पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय और विषय-भोग; यद्यपि इनमें से कोई तो शुभभावरूप हैं और कोई अशुभभाव रूप हैं; तथापि मूलवस्तु के विचार करने पर, वस्तु के मूल स्वरूप का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। वीतरागी अरहंत भगवान ने बंधपद्धति का ऐसा स्वरूप बताया है और कहा है कि आत्मधर्म में, आत्मा के धर्म में तो सभी कर्म त्याग करने योग्य ही हैं। संसाररूपी समुद्र से पार उतारने वाला, राग-द्वेष का हरण करने वाला – नाश करने वाला, महान मोक्ष का करने वाला तो एक शुद्धोपयोग ही है।

देखो, इस छन्द में शील, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा रूप शुभभावों और विषय-भोग, कषाय और असंयम को एक ही पंक्ति में रखा है, एक समान ही हेय बताया है। संस्कृत के मूल छन्द में तो 'सभी कर्म' मात्र इतना ही संकेत किया था; किन्तु इस भावानुवाद में उन सभी शुभाशुभकर्मों के नाम गिना दिये हैं। मूल छन्द में ज्ञान को शिवहेतु कहा था और यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ शुद्धोपयोग किया है। 'एक शुद्धोपयोग ही मोक्ष का करने वाला है' – इसका भाव ही यह है कि अशुभोपयोग के समान शुभोपयोग भी बंध का ही कारण है, मुक्ति का कारण नहीं।

* बनारसीदासजी इस छन्द में कहते हैं कि भले ही लौकिक दृष्टि से अथवा जिनागम में भी व्यवहारनय से शुभभाव को अच्छा कहा जाता हो; परन्तु आत्मधर्म में, आत्मसाधना के मार्ग में तो सभी शुभाशुभकर्म त्यागने योग्य ही हैं।

देखो, यहाँ शुभ और अशुभ दोनों ही भावों को कर्मरूपी रोग कहा है। इसी ग्रन्थ के आरंभ में इस ग्रन्थ में समागत मूल शब्दों के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं, नाममाला दी गई है; उसमें पुण्य के नामों में **अकररोग** और पाप के नामों में **कंपरोग** दिये गये हैं, जो इसप्रकार हैं –

(दोहा)

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म ।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म ॥
पाप अधोमुख एन अघ, कंपरोग दुखधाम ।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभकरम के नाम ॥

पुण्य, सुकृत, उर्ध्ववदन, **अकररोग**, शुभकर्म, सुखदायक, भाग्य, संसारफल, बर्हिमुख और धर्म – ये सभी पुण्य के नाम हैं।

पाप, अधोमुख, एन, अघ, **कंपरोग**, दुखधाम, कलिल, कलुष, किल्विष, दुरित और अशुभकर्म – ये सभी पाप के नाम हैं।

अकर माने अकड़! पुण्य के उदय में लोग अभिमानी होकर अकड़ने लगते हैं, इसकारण पुण्य को अकररोग अर्थात् अकड़रोग कहा जाता है और पाप के उदय में डर के मारे लोग कांपने लगते हैं, इसकारण पाप को कंपरोग कहा जाता है।

उक्त कलश पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यह बात सामान्यजनों को सहज भाव से स्वीकृत नहीं होती, इसलिये आचार्यदेव ने सर्वज्ञ के आधार से यह बात कही है। वर्तमान में बहुत गड़बड़ी चल रही है। अधिकांश जन व्रत, तप, भक्ति आदि बाह्यक्रियाओं में ही धर्म मानकर अटके हैं। कहते हैं कि यही सब करते-करते मोक्षमार्ग व मोक्ष हो

जायेगा; परन्तु भाई! ये सब तो शुभभाव हैं, इन्हें सर्वज्ञ भगवान ने बंध का कारण कहा है।[१]

चारों अनुयोगों में एक ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है। शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा में ही एकाग्र होकर श्रद्धान-ज्ञान व रमणता प्रगट करना ही मोक्षमार्ग है। स्वभाव से तो आत्मा स्वयं त्रिकाल ज्ञानस्वरूप ही है, किन्तु वर्तमान में उस त्रिकाली ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्रता करना ही 'ज्ञानमेव' का अर्थ है।

'ज्ञानमेव' कहकर आचार्यदेव ने यहाँ वर्तमान पर्याय में शुद्धरत्नत्रयरूप होने की बात की है। भगवान आत्मा जो त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उसमें एकाग्रता करना मोक्ष का कारण है। अशुभ की भांति शुभ भी बंध का कारण होने से धर्म का कारण नहीं हो सकता; अतः मोक्षमार्ग में उसका निषेध किया गया है।[२]"

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मुक्ति के मार्ग में सभी कर्म त्याग करने योग्य हैं तो फिर मुक्तिमार्ग के पथिक मुनिराज क्या करेंगे; क्योंकि उन्हें तो करने को कुछ रहा ही नहीं?

इसी प्रश्न का उत्तर आगामी कलश में दिया गया है, जो इसप्रकार है –

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥ १०४॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥ १०४॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ६९
२. वही, पृष्ठ ७०

कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का मोक्ष के रूप में आश्रय करते हैं।''

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है -

''देखो, आचार्य कहते हैं कि समस्त पाप-पुण्य के भावों के नाश करने से आत्मलाभ की प्राप्ति होती है। यह आत्मोपलब्धि ही मोक्ष है। जगत में कितने ही जीव इस मोक्ष को चाहते हुए भी मोक्ष का कारणभूत जो सामायिक है, उसे नहीं जानते। यह सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव वाले परमार्थभूत ज्ञान का भवनमात्र है। पूर्णानन्दमय आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान व रमणतारूप जो भवन-परिणमन है, वही सामायिक है। ऐसी सामायिक शुभराग के सूक्ष्म विकल्पों के भी अभावरूप है। शुभरागरूप विकल्प सामायिक नहीं हैं। विकल्पमात्र में सामायिक की नास्ति है और सामायिक में विकल्पों की नास्ति है। परमार्थभूत ज्ञान अर्थात् आत्मा का भवनमात्र ही सामायिक है।[१]

सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाले परमार्थभूतज्ञान का भवन मात्र है - एक बात तो यह हुई, दूसरी बात यह है कि वह सामायिक स्वरूप में एकाग्रतारूप है। अपने ध्रुव एक चैतन्यस्वरूप को अग्र (मुख्य) बनाने से आत्मा में जो वीतरागता एवं अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमन होता है, वह एकाग्रता लक्षणवाला परिणाम ही सामायिक है। जिसे उस सामायिक परिणाम की तो खबर नहीं है और आसन मारकर जमकर बैठ जाने से ऐसा मान ले कि मेरी सामायिक हो गई तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है।[२]

भाई ! सामायिक तो समयसार स्वरूप है। द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से रहित समयसार स्वरूप आत्मा का अनुभव ही सामायिक है। एक सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से चैतन्य व आनन्दरूप भवन-परिणमन ही सामायिक है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १०५-१०६
२. वही, पृष्ठ १०६
३. वही, पृष्ठ १०६

ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध चैतन्य धातुमय भगवान आत्मा का अनुसरण करने से जो शुद्ध परिणमन होता है, उसे सामायिक कहते हैं। तथा राग का अनुसरण करने से जो परिणमन होता है, नपुंसकता है, वह पुरुषार्थ नहीं है। जैसा पाप को छोड़ा, उसीप्रकार पुण्य को भी छोड़कर शुद्धात्मा का अनुसरण करना ही पुरुषार्थ है और यही सामायिक है।[१]

देखो, यहाँ व्रत, तप, पूजा, भक्ति आदि शुभभावों को अत्यन्त स्थूल व जड़ कहा है। गाथा ७२ में भी इसे अशुचि, अचेतन व दुःख का कारण कहा था। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि शुभराग मोक्ष का कारण नहीं है।

आचार्यदेव ने यहाँ शुभभाव को लघुकर्म एवं अशुभभाव को गुरुकर्म कहा है। अशुभ जो गुरुकर्म है, उसे अज्ञानी ने अनेक बार छोड़ा, किन्तु जो लघु-हलका स्थूल शुभभाव है, उसको संचित करता रहता है, जबकि दोनों ही कर्म हैं, विकार हैं, दोष हैं। अज्ञानी दोष को दोषरूप न देखकर शुभभावरूप कर्म को ठीक मानकर संतुष्ट चित्त होकर, उसमें मिठास का अनुभव करते हैं। अतः अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते। इसप्रकार वे स्थूल लक्ष्यवाले होकर समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते।[२]

यहाँ तो यह कहते हैं कि अज्ञानी शुभभाव में वर्तता है, इसकारण वह स्थूल लक्ष्यवाला है; क्योंकि सूक्ष्म चैतन्य के लक्ष्य का उसमें अभाव है। ऐसी स्थिति में उसको सामायिक कैसे हो सकती है ? भले ही वह सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर बैठ जावे और णमोकार मन्त्र या पंच परमेष्ठी की स्तुति आदि का पाठ करे, पर इनसे क्या? भगवान पंचपरमेष्ठी निज आत्मद्रव्य से भिन्न परद्रव्य हैं और परद्रव्य का स्मरण स्थूल शुभराग है। उस शुभराग से ज्ञान का भवनमात्र सामायिक कैसे हो सकती है ?[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १०७
२. वही, पृष्ठ १०८
३. वही, पृष्ठ १०८

देखो, शुभ व अशुभ दोनों परिणामों को स्थूल कहा और इनसे भिन्न आत्मस्वभाव को या ज्ञायकभाव को सूक्ष्म कहा है। अशुभभाव जैसा स्थूल है, वैसा ही स्थूल शुभभाव है। बन्ध की अपेक्षा दोनों एक ही हैं।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि कर्मक्षय का मूलहेतु तो निजभगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यानरूप सामायिक या शुद्धोपयोग ही है, शुभाशुभभाव नहीं हैं; क्योंकि शुभाशुभभाव तो कर्मबंध के कारण हैं। अज्ञानी जीव इस बात को तो गहराई से समझते नहीं और पुण्यभाव को ही कर्मक्षय का हेतु जानकर उसी में मग्न रहते हैं।

आचार्य जयसेन यहाँ पुण्याधिकार को समाप्त मानते हैं। इस गाथा की टीका के अन्त में वे लिखते हैं -

''**एवं गाथादशकेन पुण्याधिकार समाप्तः** - इसप्रकार इन दस गाथाओं के द्वारा यह पुण्याधिकार समाप्त हुआ।''

ध्यान रहे आचार्य जयसेन यहाँ पुण्याधिकार की समाप्ति की सूचना दे रहे हैं, पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति की नहीं; क्योंकि पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति तो वे भी आचार्य अमृतचन्द्र के समान यहाँ से ९ गाथाओं के बाद १६३वीं गाथा पर ही करेंगे। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ११०

जिसप्रकार आग चाहे नीम की हो, चाहे चन्दन की, पर आग तो जलाने का ही काम करती है। ऐसा नहीं है कि नीम की आग जलाये और चन्दन की आग ठंडक पहुँचाये। भाई ! चन्दन भले ही शीतल हो, शीतलता पहुँचाता हो, पर चन्दन की आग तो जलाने का ही काम करेगी। भाई ! आग तो आग है, इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि वह नीम की है या चन्दन की। उसीप्रकार राग चाहे अपनों के प्रति हो या परायों के प्रति हो, चाहे अच्छे लोगों के प्रति हो या बुरे लोगों के प्रति हो, पर है तो वह हिंसा ही, बुरा ही। ऐसा नहीं है कि अपनों के प्रति होने वाला राग अच्छा हो और परायों के प्रति होने वाला राग बुरा हो अथवा अच्छे लोगों के प्रति होने वाला राग अच्छा हो और बुरे लोगों के प्रति होने वाला राग बुरा हो। अच्छे लोगों के प्रति भी किया गया राग भी हिंसा होने से बुरा ही है। **– अहिंसा : महावीर की दृष्टि में, पृष्ठ २९**

समयसार गाथा १५५

१५४वीं गाथा में बड़ी दृढ़ता से यह कहा गया है कि शुभाशुभभाव मुक्ति के हेतु नहीं हैं; अत: यह जिज्ञासा जागृत होना स्वाभाविक ही है कि मुक्ति का वास्तविक हेतु क्या है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही १५५वीं गाथा लिखी गई है; जो इसप्रकार है -

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १५५॥
जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
रागादि का परिहार चारित - यही मुक्तिमार्ग है ॥ १५५॥

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं जीवादि पदार्थों का अधिगम (जानना) ज्ञान है और रागादि का त्याग चारित्र है; - यही मोक्ष का मार्ग है।

यह एक सीधी-सादी, सहज, सरल, सुबोध गाथा है; जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र का स्वरूप समझाया गया है और इन तीनों की एकता को मोक्षमार्ग बताया गया है।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र इन तीनों को ही ज्ञान पर घटित करते हैं; क्योंकि पूर्व में यह कहते आये हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। उक्त कथनों से इस कथन की संगति बैठाने का ही यह सफल प्रयास है। उनका कथन मूलत: इसप्रकार है -

"वस्तुत: मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र है। उनमें जीवादिपदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणमना सम्यग्दर्शन है, जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणमना सम्यग्ज्ञान है और रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणमना सम्यक्‌चारित्र है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र - तीनों

ही एक ज्ञान का ही भवन है, परिणमन है; इसलिए ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।''

आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त व्याख्या का औचित्य सिद्ध करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

''आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है और इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिये 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' – यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञान है वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है – ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है; इसीलिये टीका में कई स्थानों पर आचार्यदेव ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है।''

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

''जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन – यह 'एकेन्द्रियादि जीव हैं व घट-पटादि अजीव हैं' – ऐसे श्रद्धान की बात नहीं है; अपितु जीव ज्ञायकभावरूप है, वीतरागस्वभावी है, रागस्वभाव व कर्मस्वभावरूप नहीं है – ऐसे स्वभाव-विभाव की भिन्नता के श्रद्धानरूप समकित की बात है।

श्रद्धान स्वभाव से ज्ञान का होना – ऐसा जो टीका में कहा है, वहाँ ज्ञान का अर्थ आत्मा है। उस प्रकरण में आत्मा न कहकर ज्ञान कहने का प्रयोजन रागादि विकार से रहित आत्मा का ज्ञानरूप परिणमन है।

अब कहते हैं कि जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना परिणमना ज्ञान है।

देखो, यहाँ शास्त्रज्ञान की बात नहीं है, वह तो परलक्ष्यी ज्ञान है। यहाँ तो आत्मा के ज्ञान का अन्तर में स्व-संवेदनरूप स्व का प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होने को ज्ञान कहा है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा जो अपने स्वरूप से ज्ञानरूप परिणमता है, उसे ज्ञान कहते हैं और वह वीतरागी पर्याय है। भाई ! त्रिलोकीनाथ वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन्द्रों व गणधरों के बीच धर्मसभा में जो कहा है – वही यह बात है।

आत्मा का जीवादि पदार्थों को जाननेरूप परिणमना या निजज्ञायक के लक्ष्य से ज्ञानपर्यायरूप परिणमना ही सम्यग्ज्ञान है। पुण्य-पाप से रहित शुद्ध निजज्ञायक को जाननेवाला अर्थात् ज्ञायक के लक्ष्य से परिणमन करनेवाला ज्ञान भी पुण्य-पाप के भावों से रहित है। भाई ! यह सम्यग्ज्ञान की पर्याय वीतरागी पर्याय है।[१]

अब कहते हैं कि रागादि के त्यागस्वभाव से ज्ञान का होना परिणमना चारित्र है।

देखो, पाँच महाव्रतों को पालने का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुणों के पालन करने का परिणाम राग है। अव्रत का परिणाम पापभाव है, व्रत का परिणाम पुण्यभाव है। इन दोनों के त्यागभावरूप ज्ञान का अर्थात् आत्मा का होना परिणमना धर्म है। यहाँ आत्मा ज्ञानस्वभाव से अन्तर में एकाग्र होकर परिणमता है, वह सहज ही रागरूप नहीं होता।

यह परिणमन ही राग के अभावरूप है तथा यही सम्यक्चारित्र है। 'यह राग है, मैं इसे छोड़ता हूँ' - ऐसा नहीं होता, बल्कि जब परिणाम स्वरूप में मग्न होकर स्थिर होता है, तब राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। यही स्वरूप के आचरणरूप चारित्र है।[२]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र - तीनों एक ज्ञान का ही भवन (परिणमन) है। इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।[३]''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा में समागत विषय-वस्तु को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जीवादि नौ पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है; इन्हीं पदार्थों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सुनिश्चित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक रागादि का परिहार सम्यक्चारित्र है – यह व्यवहार मोक्षमार्ग है। अथवा भूतार्थनय से जाने हुए उन्हीं नवपदार्थों

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ११५-११६
२. वही, पृष्ठ ११९
३. वही, पृष्ठ १२०

को शुद्धात्मा से भिन्न अवलोकन करना अर्थात् उन पदार्थों से भिन्न अपने आत्मा का अवलोकन करना निश्चय सम्यक्त्व है, भिन्न जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और इन दोनों पूर्वक रागादि विकल्पों से रहित होकर निज शुद्धात्मा में रहना निश्चय सम्यक्चारित्र है और यही निश्चय मोक्षमार्ग है।"

आचार्य जयसेन की उक्त टीका पर समयसार गाथा १३ एवं आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में समागत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषाओं की छाया विद्यमान है। लगता है आचार्य जयसेन ने उन्हीं के भाव को यहाँ प्रस्तुत कर दिया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में समागत वे परिभाषायें इसप्रकार हैं -

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२॥
कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ ३५॥
चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९॥

जीवाजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धान सदा ही करना चाहिए; क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है।

अनेकान्तस्वरूप तत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित निर्णय करने का अध्यवसाय (प्रयास) अवश्य करना चाहिए; क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा का निजरूप है।

समस्त सावद्य के त्याग से होनेवाला, सम्पूर्ण कषायों से रहित, परपदार्थों से उदासीन, निर्मल चारित्र आत्मस्वरूप होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषा बताने वाले उक्त तीनों छन्द का अन्तिम पद '**आत्मरूपं तत्**' है, जो यह बताता है कि ये तीनों आत्मरूप हैं, आत्मा के स्वरूप ही हैं।

इनकी आत्मरूपता इनके निश्चयस्वरूप को बताती है और शेष विशेषण इनके व्यवहाररूप को बताने वाले हैं। इसप्रकार इन परिभाषाओं में निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार की परिभाषायें आ जाती हैं।

कारण जो भी रहा हो, पर इस गाथा की टीका करते समय आचार्य जयसेन आत्मख्याति का अनुकरण न करके आचार्य अमृतचन्द्र की अन्य कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अनुकरण करते दिखाई देते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में यह सुनिश्चित कर दिया गया है कि मुक्ति का कारण एक त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा अथवा उसके आश्रय से उत्पन्न होने वाली रत्नत्रयरूप परिणति है।

अब आगामी गाथा में यह स्पष्ट करेंगे कि इससे अन्य जो भी शुभाशुभभाव, पुण्य-पाप के परिणाम या तत्संबंधी प्रवृत्तियाँ, जिन्हें यहाँ कर्म नाम से अभिहित किया गया है, वे मुक्ति का कारण नहीं हैं। •

सत्यधर्म को वचन तक सीमित कर देने से एक बड़ा नुकसान यह हुआ कि उसकी खोज ही खो गई। जिसकी खोज जारी हो उसका मिलना संभव है, पर जिसकी खोज ही खो गई हो वह कैसे मिले ? जबतक सत्य को समझते नहीं, खोज चालू रहती है। किन्तु जब किसी गलत चीज को सत्य मान लिया जाता है तो उसकी खोज भी बन्द कर दी जाती है। जब खोज ही बन्द कर दी जावें तो फिर मिलने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

हत्यारे की खोज तभी तक होती है जबतक कि हत्या के अपराध में किसी को पकड़ा नहीं जाता। जिसने हत्या नहीं की हो, यदि उसे हत्या के अपराध में पकड़ लिया जाये, सजा दे दी जाये, तो असली हत्यारा कभी नहीं पकड़ा जायेगा। क्योंकि अब तो फाइल ही बन्द हो गई, अब तो जगत की दृष्टि में हत्यारा मिल ही गया, उसे सजा भी मिल गई। अब खोज का क्या काम ? जब खोज बन्द हो गई तो असली हत्यारे का मिलना भी असंभव है।

इसीप्रकार जब सत्यवचन को सत्यधर्म मान लिया गया तो फिर असली सत्यधर्म की खोज का प्रश्न ही कहाँ रहा ? सत्यवचन को सत्यधर्म मान लेने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि सत्यधर्म की खोज खो गई।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ७२

समयसार गाथा १५६

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ १५६॥

विद्वानगण भूतार्थ तज वर्तन करें व्यवहार में ।
पर कर्मक्षय तो कहा है परमार्थ-आश्रित संत के ॥ १५६॥

विद्वान् लोग निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तते हैं; किन्तु कर्मों का नाश तो निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ का आश्रय लेने वाले यतीश्वरों (मुनिराजों) के ही कहा गया है।

इस गाथा का अर्थ ऐसा भी किया जाता है – विद्वान् लोग निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते हैं; क्योंकि कर्मों का नाश तो परमार्थ का आश्रय लेने वाले मुनीश्वरों के ही कहा गया है।

यह अन्तर **ववहारेण** और **ववहारे ण** प्रयोग से आ गया है। **ववहारे** के साथ **ण** को मिलाने पर पहला अर्थ और **ववहारे से ण** को अलग लिखने पर दूसरा अर्थ प्रतिफलित होता है। यह अन्तर करण कारक और अधिकरण कारक का अन्तर है।

'ववहारे' यह सप्तमी विभक्ति के एकवचन का, अधिकरण कारक का प्रयोग है। और 'ववहारेण' यह तृतीया के एकवचन का, करणकारक का प्रयोग है।

आचार्य जयसेन इसे अधिकरण का ही प्रयोग मानते हैं, इसकारण वे इसका अर्थ इसप्रकार करते हैं –

"**मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे** – निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये **ण विदुसा पवट्टंति** – विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तन्ते। कस्मात् ?

परमट्ठमासिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि – सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्रयपरणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति।

निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहारनय के विषय में विद्वान – ज्ञानी लोग प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

क्यों नहीं करते ?

क्योंकि कर्मों का क्षय तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपएकाग्रपरिणतिवाले और निजशुद्धात्मा की भावनारूप परमार्थ के आश्रित रहने वाले मुनियों के होता है।''

प्रथम अर्थ के स्वीकार करने पर ऐसा लगता है कि जैसे विद्वान और यतीश्वर परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हों। विचारने की बात यह है कि क्या साधुजन विद्वान् नहीं होते, क्या साधुजन विद्वान् नहीं हो सकते ? इसीप्रकार क्या विद्वान् संयम धारण करके मुनिराज नहीं बन सकते ? जबकि वस्तुस्थिति तो यह है कि हमारे कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, अमृतचन्द्र जैसे अनेकों यतीश्वर उच्चकोटि के विद्वान् भी थे।

आचार्य जयसेन ने तो उक्त टीका में विद्वान् शब्द का अर्थ ज्ञानी ही किया है।

यदि यह कहा जाय कि कुछ विद्वान् आत्मज्ञानशून्य भी हो सकते हैं, तो क्या कुछ मुनिराज भी आत्मज्ञानशून्य नहीं हो सकते? मूल बात तो यह है कि आत्मज्ञानशून्य व्यक्ति के कर्मों का नाश नहीं होता और आत्मज्ञानियों के कर्मों का नाश होता है। इसीलिए तो आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीका में न तो विद्वान् शब्द का प्रयोग करते हैं और न यति शब्द का ही। वे तो कुछ लोग (केषांचित्) शब्द का ही उपयोग करते हैं, उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

''कुछ लोग मोक्ष के पारमार्थिक हेतु से भिन्न जो व्रत, तपादि शुभकर्म हैं; उन्हें मोक्ष का हेतु मानते हैं। यहाँ उन सभी का निषेध किया गया है; क्योंकि वे व्रतादि अन्य द्रव्य के स्वभाववाले पुद्गलरूप हैं; इसकारण उनके स्वभाव

से ज्ञान का भवन (होना) नहीं बनता। जो पारमार्थिक मोक्षहेतु हैं, वही एकद्रव्यस्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) होने से उसके स्वभाव द्वारा ज्ञान का भवन (होना) बनता है।''

यहाँ एक द्रव्यस्वभाव क्या है और अन्य द्रव्यस्वभाव क्या है?–यह समझना बहुत जरूरी है; क्योंकि इनकी चर्चा आगामी कलशों में भी आने वाली है।

जिस द्रव्य में जो कार्य होना है, उस कार्य का कारण भी उसी द्रव्य में विद्यमान होना एकद्रव्यस्वभाव है। एकद्रव्यस्वभाववाला कारण ही सच्चा कारण है। मोक्ष भी आत्मा को होना है और आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र गुण का परिणमन भी आत्मा में होना है और आत्मा के सम्मुख होकर होना है; इसकारण मुक्ति का कारण आत्मा और आत्मसम्मुख दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणमन को कहना एकद्रव्यस्वभाववाला हेतु हुआ।

शुभाशुभभाव और शुभाशुभक्रिया पुद्‌गलस्वभावी है; अतः वे आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति रूप कर्म के लिए अन्यद्रव्यस्वभावी है; अतः वे शुभाशुभभाव व शुभाशुभक्रिया मोक्ष के हेतु नहीं हो सकते।

इस प्रकरण और इस गाथा का मूल प्रतिपाद्य यही है; विद्वानों को मोक्ष नहीं होता और यतियों को होता है – यह नहीं। यही कारण है कि टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने विद्वान और यति शब्द का उपयोग ही नहीं किया। यहाँ प्रकरण इस बात का नहीं है कि किसको मोक्ष होता है और किसको नहीं; अपितु इस बात का है कि मोक्ष का मूल हेतु क्या है और क्या नहीं? अतः आत्मख्याति में इसी बात पर ध्यान केन्द्रित किया गया है कि आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाले सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्ररूप ज्ञान का परिणमन ही मोक्ष का हेतु है, शुभाशुभभावरूप पुण्य-पाप नहीं।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''देखो, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभाव यद्यपि मोक्ष के वास्तविक कारण नहीं हैं; तथापि कुछ लोग इन्हें मोक्ष का परमार्थ कारण मानते हैं; उनके भ्रमनिवारणार्थ एवं परमार्थ मोक्ष के हेतुओं का ज्ञान कराने के लिये यहाँ उन समस्त शुभभावों में मोक्षमार्ग के कारणपने का निषेध किया गया है।

भगवान आत्मा जैसा त्रिकाल स्वभाव से शुद्ध चैतन्यस्वरूप वीतरागस्वभावी

है; उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में भी वीतरागीभाव से परिणमित होना परमार्थ मोक्षमार्ग है। उनसे भिन्न व्रत, तप वगैरह शुभकर्मरूप या शुभभावरूप राग यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं है।[१]

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसी भाव के पोषक दो कलश तथा आगामी गाथाओं का सूचक एक कलश – इसप्रकार तीन कलश लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं –

(अनुष्टप्)

वृतं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ १०६॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७॥
मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधाभिवत्वात्तन्निषिध्यते ॥ १०८॥

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन ज्ञानभावमय होय ।
एकद्रव्यस्वभाव यह हेतु मुक्ति का होय ॥ १०६॥
कर्मभाव का परिणमन ज्ञानरूप न होय ।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह इससे मुकति न होय ॥ १०७॥
बंधस्वरूपी कर्म यह शिवमग रोकनहार ।
इसीलिए अध्यात्म में है निषिद्ध शतवार ॥ १०८॥

ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होने से ज्ञान के स्वभाव से ज्ञान का भवन (परिणमन) बनता है; इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होने से कर्म के स्वभाव से ज्ञान का भवन (परिणमन) नहीं बनता है; इसलिए कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।

कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने वाला है और वह स्वयं ही बंधस्वरूप है तथा मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने के स्वभाव वाला होने से उसका निषेध किया गया है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १२५

इन कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"जानना, श्रद्धान करना एवं स्थिर होना - ये तीनों एक मात्र जीवद्रव्य स्वभावी या चैतन्यस्वभावी हैं। राग की क्रिया से भिन्न रहकर आत्मा का जो अन्तर्परिणमन हुआ, वह चैतन्यस्वभावी होने से ज्ञान का अर्थात् आत्मा का ही परिणमन है। आत्मद्रव्य के शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही आत्मद्रव्य का शुद्ध होना - परिणमना होता है। इसमें किसी परद्रव्य की या राग के आश्रय की अपेक्षा नहीं है।[१]

देखो, इस कलश में कितना सार भरा है। ज्ञान, श्रद्धान व शान्तिरूप वीतराग परिणति - ये तीनों एक जीवद्रव्यस्वभावी हैं और यही मोक्ष का कारण है। राग की क्रिया अन्यद्रव्यस्वभावी होने से धर्म का कारण नहीं हो सकती।[२]

देखो, कर्म अर्थात् व्रत, तप, दया, दान, भक्ति, पूजा आदि सभी शुभभाव अन्यद्रव्यस्वभावी यानि पुद्गलद्रव्यस्वभावी हैं। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि राग आत्मा का स्वभाव हो तो वह आत्मा से कभी पृथक् नहीं हो सकता था; किन्तु जब आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव में स्थिर होता है, तब राग निकल जाता है और आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप रह जाता है।[३]

देखो, आचार्यदेव ने खूब घोषणा कर-करके कहा है कि - व्रत, तप, आदि बाह्यक्रियारूप शुभकर्म मोक्ष का कारण नहीं है; तथापि यह बात लोगों को क्यों नहीं सुहाती ? समझना तो बहुत दूर, सुनना भी नहीं चाहते। जिसका महान भाग्योदय होगा, उसे ही यह बात रुचेगी; सुनेगा भी वही और समझेगा भी वही। यह विचार करके ही संतोष धारण करना पड़ता है।[४]

समयसार कलश में भी इसी श्लोक की टीका करते हुये श्री राजमलजी ने स्वयं शंका-समाधान करते हुये लिखा है कि - यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १३५
२. वही, पृष्ठ १३५
३. वही, पृष्ठ १३६
४. वही, पृष्ठ १३८

अशुभ क्रियारूप जो आचरण या चारित्र है; वह जिसतरह करने योग्य नहीं है, उसीतरह निषेध करने योग्य भी तो नहीं है। उसका समाधान इसप्रकार है कि - निषेध करने योग्य है; क्योंकि उसका व्यवहारचारित्र नाम होते हुये भी वह दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, इसकारण विषय-कषाय की तरह ही क्रियारूप चारित्र भी निषिद्ध है।[१]

अब कहते हैं कि 'मोक्षहेतु तिरोधायित्वात्' अर्थात् व्रतादिरूप जितना शुभकर्म है, वह सब मोक्ष के कारण के विरुद्ध स्वभाववाला है, इसकारण उस कर्म का निषेध किया गया है।

इसप्रकार शुभकर्म निम्नांकित तीन बोलों से निषिद्ध किया गया है -

१. कर्म मोक्ष के कारण का घातक है।

२. कर्म स्वयं बंध का स्वरूप है।

३. कर्म मोक्ष के कारणों के विरुद्धस्वभाववाला है।

भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभावी सदा मुक्तस्वरूप ही है तथा इसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम होते हैं, वे भी अबन्धस्वरूप हैं; इसलिए एकमात्र वे ही मोक्ष के कारण हैं। अत: यह सिद्ध हुआ कि शुभभाव से आत्मा का कल्याण होना मानना मिथ्यादर्शन है।

यहाँ मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र के परिणाम को विपरीत स्वभाववाला कहकर जड़ अचेतन कहा है। तात्पर्य यह है कि जहाँ चैतन्य के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम होते हैं, वहाँ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम नहीं होते। दोनों जाति के परिणाम एक साथ नहीं होते। जिसे आत्मा का निर्विकल्प श्रद्धान ज्ञान एवं शान्ति का वेदन होता है, उसे कदाचित् राग होता है; परन्तु उस ज्ञानी-समकिती को मिथ्यात्व नहीं होने से उस राग के प्रति स्वामित्व नहीं होता। इसकारण उसे पूर्ण वीतरागता न होने पर भी मिथ्याचारित्र नहीं है, सम्यक् चारित्र ही है।

स्वभाव से ही आत्मद्रव्य भगवानस्वरूप वीतरागस्वरूप है। उसका श्रद्धान-ज्ञान व रमणतारूप परिणाम मोक्षमार्ग है और शुभाशुभ कर्म उसके

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४०

घातक हैं, स्वयं बन्धस्वरूप हैं और शुद्ध परिणति से विपरीत स्वभाववाले हैं, अतः निषेध्य हैं।[१]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों कलशों में यह कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान का परिणमन आत्मस्वभाव होने से मुक्ति का कारण है और शुभाशुभभावरूप कर्म परिणमन पुद्गलस्वभाव होने से मुक्ति का कारण नहीं है, मुक्ति का निरोधक है; अतः उन कर्मों का मुक्तिमार्ग में निषेध किया गया है।

अनेक आगम प्रमाणों और युक्तियों से यह बात भली-भांति स्पष्ट हो गई कि ये शुभाशुभ सभी पुण्य-पापरूप परिणाम बंध के ही कारण हैं; फिर भी तीव्र मिथ्यात्व के कारण अज्ञानिओं को यह बात जचती नहीं, रुचती नहीं और पचती नहीं।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी उक्त तीन कलशों का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(सोरठा)

अंतर-दृष्टि-लखाउ, निज सरूपकौ आचरन ।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा ॥

अपने अन्तर में दृष्टि को केन्द्रित करना, स्वयं को ही लखना (देखना) और अपने स्वरूप में ही आचरण करना, रमना ही परमात्म पद प्राप्त करने के भाब हैं और ये ही मुक्ति के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ही मुक्ति के कारण हैं।

(सोरठा)

करम सुभासुभ दोइ, पुद्गलपिंड विभाव मल ।
इनसौ मुकति न होई, नहिं केवल पद पाइए ॥

शुभ और अशुभ - दोनों प्रकार के ही कर्म पुद्गल के पिंड हैं, विभाव हैं, मैल हैं; इनसे मुक्ति नहीं होती और न इनसे केवलज्ञान की प्राप्ति ही होती है।

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४०-१४१

तीसरे कलश के भाव को उन्होंने शिष्य-गुरु के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

कोऊ शिष्य कहै स्वामी ! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी ।
गुरु कहै जबलौं क्रिया के परिनाम रहैं,
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी ॥
विरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होई,
यातैं दोऊ क्रिया मोख-पंथ की कतरनी।
बंध की करैया दोऊ दूहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी ॥ १२॥

कोई शिष्य कहता है कि हे स्वामी। आपने ऐसा क्यों नहीं कहा कि अशुभक्रिया अशुद्ध है और शुभक्रिया शुद्ध है ?

उत्तर में गुरुजी कहते हैं कि हे भाई ! जबतक क्रिया (करने) के परिणाम रहते हैं, तबतक उपयोग और योग (मन-वचन-काय) में चंचलता बनी रहती है। जबतक योग और उपयोग में स्थिरता नहीं आती है, तबतक शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता है। इसलिए शुभ और अशुभ दोनों ही क्रियायें मोक्षमार्ग को काटने लिए कैंची के समान हैं। जिसप्रकार कैंची कपड़े को काटती है; उसीप्रकार से शुभाशुभभाव मुक्तिपथ को काटते हैं।

कवि कहते हैं कि मैं अधिक क्या कहूँ? ये शुभ और अशुभ दोनों ही भाव बंध के करने वाले हैं, दोनों में कोई भी भला नहीं है। मैंने इन्हें मुक्तिमार्ग में बाधक जानकर ही इनका निषेध किया है। करनी मात्र निषेध करने योग्य है। किसी भी प्रकार की करनी (कर्तृत्वबुद्धि) क्यों न हो, वह तो बंध की कारण होने से निषेध करने योग्य ही है।

इसप्रकार इन कलशों में यह कह दिया गया है कि सभी प्रकार के शुभाशुभभाव मुक्तिमार्ग के विरोधी होने से हेय ही हैं।

अब इसी बात को आगामी गाथाओं में सोदाहरण स्पष्ट करेंगे। •

समयसार गाथा १५७ से १५९

१०८वें कलश में यह कहा था कि मोक्ष के हेतुओं का तिरोधायी होने से मुक्ति के मार्ग में समस्त कर्मों का निषेध किया गया है। अब उसी बात को आगामी गाथाओं के माध्यम से सोदाहरण सिद्ध करते हैं -

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥ १५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ॥ १५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥ १५९॥

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो मिथ्यात्व मल के लेप से ॥ १५७॥
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सद्ज्ञान भी त्यों नष्ट हो अज्ञान मल के लेप से ॥ १५८॥
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
चारित्र भी त्यों नष्ट होय कषायमल के लेप से ॥ १५९॥

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से लिप्त होने पर सम्यक्त्व तिरोहित हो जाता है। - ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार अज्ञानरूपी मैल से लिप्त होने पर ज्ञान तिरोभूत हो जाता है। - ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार कषायरूपी मैल से लिप्त होने पर चारित्र तिरोभूत हो जाता है। - ऐसा जानना चाहिए।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का सम्यक्त्व स्वभाव परभावरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का ज्ञानस्वभाव परभावरूप अज्ञान नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का चारित्रस्वभाव परभावरूप कषाय नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

इसलिए मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का तिरोधान करनेवाला होने से कर्म का निषेध किया गया है।"

इसीप्रकार का भाव आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में व्यक्त किया है।

इसप्रकार गाथा और टीकाओं में सफेदवस्त्र के उदाहरण के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल से ढक जाती है; उसीप्रकार आत्मा का परमपवित्र निर्मल स्वभाव शुभाशुभभावों से ढक जाता है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में शुभाशुभभावों का निषेध किया गया है।

उक्त कथन को अत्यन्त सरल शब्दों में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"सम्यक्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वकर्म से तिरोभूत होता है, ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानकर्म से तिरोभूत होता है और ज्ञान का चारित्ररूप परिणमन कषायकर्म

से तिरोभूत होता है। इसप्रकार मोक्ष के कारणभावों को कर्म तिरोभूत करता है, इसलिये उसका निषेध किया गया है।"

उक्त संदर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं -

"देखो, यहाँ जो मिथ्यात्व कर्ममल की चर्चा है, वह भावमिथ्यात्व की बात है, 'शुभभाव धर्म है' - ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व की बात है। इस मिथ्यात्वरूप मैल से व्याप्त होने से त्रिकाली चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का सम्यक्त्व तिरोभूत हो जाता है, जिसे टीका में ज्ञान का सम्यक्त्व कहा है। ज्ञान का सम्यक्त्व कहो या आत्मा का सम्यक्त्व कहो - एक ही बात है। इसका अर्थ है त्रिकाली शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की अनुभूति या प्रतीति, वह प्रतीति मोक्ष के कारणरूप आत्मा का निज स्वभाव है।[१]

देखो, यहाँ ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान चैतन्यस्वरूप निज आत्मा के ज्ञान को ही 'ज्ञान का ज्ञान' कहा है। इसप्रकार यहाँ सम्पूर्ण आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से सम्बोधित किया है। ज्ञान का ज्ञान अर्थात् अखण्ड एकरूप त्रिकाली चैतन्यमय ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का ज्ञान। चैतन्यमय आत्मा का यह ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। यहाँ शास्त्रज्ञानरूप पराश्रित ज्ञान की बात नहीं है। यह तो उस आत्मज्ञान की बात है, जिसमें संवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय भी नहीं है तथा जो शुद्ध चैतन्यमय नित्यानन्दस्वरूप अनंत गुण का एकरूप है - ऐसा आत्मज्ञान ही मोक्ष के कारणरूप स्वभाववाला है।

ऐसा जो मोक्ष का कारणरूप आत्मस्वभाव है, वही ज्ञान का ज्ञान है। वह ज्ञान परभावरूप अज्ञानरूपी कर्ममल से ढक जाता है। शुभभाव को धर्म मानना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही मैल है। ऐसे अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होने से आत्मा का ज्ञान तिरोभूत हो जाता है, सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।[२]

अब ज्ञान के चारित्र यानि आत्मा के चारित्र की बात कहते हैं -

'ज्ञान का चारित्र' जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत होता है, जैसे कि

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४४
२. वही, पृष्ठ १४४-१४५

परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्र का स्वभावभूत श्वेतपना तिरोभूत हो जाता है।

देखो, यहाँ 'सच्चा चारित्र किसे कहते हैं ?' यह समझाया जा रहा है। त्रिकाल आनन्दस्वरूपी भगवान आत्मा जो अपने ही अंदर सदा विद्यमान है, उसमें अन्तर्दृष्टि करके उसी में अन्तर्लीन होने पर, रमणता करने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द का एवं शान्ति का वेदन होता है, वह चारित्र है। उसे ही यहाँ 'ज्ञान का चारित्र' कहा गया है। ज्ञान का चारित्र अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्व-संवेदन। आत्मा के इसी चारित्र को यहाँ मोक्ष का कारणरूप स्वभाव कहा है।

पंच महाव्रतादिरूप पुण्य का परिणाम मोक्ष का कारणरूप स्वभाव नहीं है। यह तो शुभराग है, कषायरूप मैल है। यह तो ज्ञान के चारित्र को अर्थात् आत्मा के चारित्र को ढक देता है, आच्छादित करता है, घात करता है। जो आत्मा का घातक है, वह आत्मा को लाभदायक कैसे हो सकता है? जो व्यक्ति पुण्य के परिणाम को आत्मा के लिये लाभदायक मानता है, उसकी तो मूल मान्यता ही उल्टी है।

तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि में तो चारित्र का स्वरूप ऐसा आया है कि - सच्चिदानन्दस्वरूप वीतरागस्वभावी ध्रुव आत्मा में अन्तररमणतारूप निर्विकल्प वीतराग परिणति का होना ही चारित्र है तथा ऐसे ज्ञान के चारित्र का अर्थात् आत्मा के चारित्रगुण का परभावरूप से परिणमना, कषायरूप होना, शुभरागरूप होना आत्मा का घातक परिणाम है। उस घातक परिणाम को करते-करते अर्थात् शुभरागरूप व्यवहार करते-करते वीतरागभावरूप निश्चय धर्म प्रगट कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।[१]

इसप्रकार मोक्ष के कारणभूत भावों को शुभभावरूप कर्म तिरोभूत करते हैं, अतः इनका निषेध किया गया है।[२]''

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि शुभाशुभभावरूप कर्म बंध के कारण होने से निषेध करने योग्य हैं। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४६

२. वही, पृष्ठ १४८

समयसार गाथा १६०

अब यह कहते हैं कि ये शुभाशुभभावरूप कर्म न केवल बंध के कारण हैं; अपितु स्वयं बंधस्वरूप ही हैं। इसी भाव को व्यक्त करने वाली आगामी गाथा इसप्रकार है -

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वतो सव्वं ॥ १६० ॥

सर्वदर्शी सर्वज्ञानी कर्मरज आछन्न हो ।
संसार को सम्प्राप्त कर सबको न जाने सर्वतः ॥ १६० ॥

यद्यपि वह आत्मा सबको देखने-जानने के स्वभाववाला है; तथापि अपने कर्ममल से लिप्त होता हुआ, संसार को प्राप्त होता हुआ; सर्वप्रकार से सबको नहीं जानता।

इस गाथा में यह कह रहे हैं कि यद्यपि इस भगवान आत्मा का स्वभाव तो सभी को देखने-जानने का है; तथापि अपने विकारीभावरूप कर्ममल से लिप्त होने के कारण वर्तमान में सबको देखने-जानने में असमर्थ है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह सबको देखने-जानने में असमर्थ होने के साथ-साथ सबको जानने-देखने के स्वभाववाले अपने आत्मा को भी नहीं जानता।

इस बात को आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

''स्वयं ज्ञान होने के कारण विश्व के सर्वपदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला यह ज्ञान (आत्मा) अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्त्तमान कर्ममल से आच्छन्न होने के कारण ही बंधावस्था में अपने को अर्थात् सर्वप्रकार से सर्वज्ञेयों को जाननेवाले स्वयं को न जानता हुआ अज्ञानभाव से रह रहा है। इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बंधस्वरूप है। स्वयं बंधस्वरूप होने से ही कर्म का निषेध किया गया है।''

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि यहाँ आत्मा को ज्ञान शब्द से अभिहित किया जा रहा है; फिर भी कहीं कोई भ्रम न रह जायें - इस कारण भावार्थ में जयचन्दजी छाबड़ा एक बार फिर सावधान करते हुए कहते हैं -

"यहाँ भी 'ज्ञान' शब्द से आत्मा समझना चाहिए। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभाव से तो सबको जानने-देखनेवाला है; परन्तु अनादि से स्वयं अपराधी होने के कारण कर्मों से आच्छदित है; इसलिये वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता, यों अज्ञानदशा में रह रहा है। इसप्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा कर्मों से लिप्त होने से अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है; इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। अत: कर्मों का निषेध किया गया है।"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हो गया कि समस्त शुभाशुभभाव कर्मबंधस्वरूप हैं, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा की दुर्दशा के प्रतीक हैं; अत: इन्हें मुक्ति के मार्ग में किसी प्रकार भी उपादेय नहीं माना जा सकता।

स्वामीजी भी कहते हैं -

"देखो, मूलगाथा में '**सव्वणाणदरसी**' पाठ है; उसमें से टीकाकार आचार्यदेव ने यह रहस्य निकाला है कि विश्व को अर्थात् सर्वपदार्थों को जानने-देखने के स्वभाववाला द्रव्य जो स्वयं है, उसे जानना चाहिये; उसके बदले तू पर के राग को जानता है, अनुभव करता है और उसी में रुक जाता है; यह तेरा अपराध है, अज्ञानभाव है; क्योंकि यह राग आस्रव व बन्ध तत्त्व है।[१]

भगवान ! तू परमात्मस्वरूप है। जिसतरह परमेश्वर परमात्मा प्रगट पर्याय में सर्वज्ञ या सर्वदर्शी है; उसीतरह तू स्वभाव में त्रिकाली द्रव्यस्वरूप सर्वज्ञसर्वदर्शी है। जो ऐसे त्रिकाली द्रव्यस्वरूप को न देखकर राग को देखने में ही अटक जाते हैं; वे पर्यायदृष्टि में अटक जाने के कारण अपने सर्वगुणसम्पन्न अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि अनंत सामर्थ्य से भरे अनन्त

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १५२

गुणमण्डित परिपूर्ण आत्मा को नहीं जानते। सर्वप्रकार से सर्वज्ञेयों को जाननेवाला आत्मा स्वयं को नहीं जानता। देखो, यहाँ राग में रुके जीव सर्वज्ञ को नहीं जानते – यह नहीं कहा, बल्कि यह कहा कि सर्वज्ञेयों को जाननेवाले अपने को नहीं जानता। अपने को जानना मुख्य है; क्योंकि जो स्वयं को जानता है, वह सर्व को जानता है।[१]

पहले आया था कि राग मोक्षमार्ग की परिणति का घातक है। अब कहते हैं कि राग स्वयं बन्धस्वरूप है। इसीकारण उसका यहाँ निषेध है। सबको जानने-देखने वाले आत्मा का स्वभाव तो अबन्धस्वरूप है। ऐसा अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा राग में अटक जाने के कारण स्वयं को नहीं जानता – यह कहा है। यह नहीं कहा कि सर्वज्ञेयों को नहीं जानता; क्योंकि स्वयं को जानना – यह निश्चय है और पर को जानना – यह व्यवहार है।[२]

सम्यग्दर्शन में अपने आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप की प्रतीति होती है। यद्यपि अभी केवलज्ञान नहीं है; तथापि सम्यग्दृष्टि को वर्तमान में अनन्तगुणों का पिण्ड परिपूर्ण ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा प्रतीति में आता है। मैं अपने में परिपूर्ण हूँ – ऐसा उसे यथार्थ श्रद्धान होता है। वह राग को अपना नहीं मानता एवं अल्पज्ञ पर्याय जितना भी अपने को नहीं मानता।

देखो, यह चतुर्थ गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि की बात है। जो सम्यग्दर्शन बिना बाह्य व्रतादि के राग-विकल्पों में रुक जाता है, उसे अपने सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव नहीं होता।[३]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि शुभाशुभभाव में उलझा यह आत्मा सबको जानने-देखने के स्वभाववाले निजभगवान आत्मा को नहीं जानता – इसी वजह से कर्ममल से लिप्त होता है और संसारसागर में परिभ्रमण करता है। •

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १५३-१५४
२. वही, पृष्ठ १५४
३. वही, पृष्ठ १५६

समयसार गाथा १६१ से १६३

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेणजीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥ १६२ ॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥ १६३ ॥

सम्यक्त्व प्रतिबन्धक करम मिथ्यात्व जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है सदा ॥ १६१ ॥
सद्ज्ञान प्रतिबन्धक करम अज्ञान जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने - यह जानना ॥ १६२ ॥
चारित्र प्रतिबन्धक करम जिन ने कषायों को कहा ।
उसके उदय से जीव चारित्रहीन हो - यह जानना ॥ १६३ ॥

सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक मिथ्यात्व है। - ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। - ऐसा जानना चाहिए। ज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञान है। - ऐसा जिनवरों ने कहा है - उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है। ऐसा जानना चाहिए। चारित्र का प्रतिबंधक कषाय है। - ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव अचारित्रवान होता है। - ऐसा जानना चाहिए।

इन सीधी-सरल गाथाओं का सीधा-सरल भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

"मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्वस्वभाव का प्रतिबंधक मिथ्यात्व है। वह स्वयं कर्म ही है और उसके उदय से ही ज्ञान (आत्मा) के मिथ्यादृष्टिपना होता है। मोक्ष के कारणभूत ज्ञानस्वभाव का प्रतिबंधक अज्ञान है। वह स्वयं कर्म ही है और उसके उदय से ज्ञान (आत्मा) के अज्ञानीपना होता है। मोक्ष के कारणभूत चारित्रस्वभाव की प्रतिबंधक कषाय है। वह स्वयं कर्म ही है और

उसके उदय से ज्ञान (आत्मा) के अचारित्रपना होता है। इसलिए यहाँ मोक्ष का तिरोधायी होने से कर्म का निषेध किया गया है।''

इसीप्रकार का भाव तात्पर्यवृत्ति में भी है। इसप्रकार गाथा और टीकाओं का निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं और इनके प्रतिबंधक मिथ्यात्वादिभाव हैं, जो स्वयं ही कर्मरूप हैं। यही कारण है कि कर्मरूप समस्त शुभाशुभभावों का मुक्तिमार्ग में निषेध किया गया है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

''वस्तुतः शुभभाव स्वयं मिथ्यात्व नहीं है, बल्कि शुभभाव को अपना मानना मिथ्यात्व है। तथा मिथ्यात्वसहित ज्ञान व आचरण अज्ञान व अचारित्र हैं।

देखो, शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करके प्रतीति करना सम्यक्त्व है और यह सम्यक्त्व मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यहाँ स्वभाव का अभिप्राय त्रिकाली स्वभाव से नहीं है; किन्तु सम्यग्दर्शन पर्याय की बात है। सम्यक्त्व मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है और उसे रोकने वाला मिथ्यात्व है। यहाँ मिथ्यात्व अर्थात् जीव के परिणाम की बात है, मिथ्यात्व कर्म की नहीं। कर्म के निमित्त से तो कथन किया जाता है। वस्तुतः तो तत्त्व के अश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव ही सम्यक्त्व का रोकने वाला है, प्रतिबन्धक कारण है; जड़कर्म मोक्षमार्ग का अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रतिबन्धक नहीं है; क्योंकि वह तो परद्रव्य है।[१]

यहाँ गाथा में मिथ्यात्वादि के उदय की जो बात कही है, उसका अर्थ यह है कि शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीतिरूप श्रद्धान से विपरीत परिणमन होना ही मिथ्यात्व का उदय है। यथा पुण्य से धर्म होता है, निमित्त से आत्मा में लाभ-हानि होती है, मैं दूसरों का भला-बुरा कर सकता हूँ या दूसरे लोग मेरा भला-बुरा कर सकते है - यह मान्यता ही सम्यक्त्व के विरुद्ध है और यह विरुद्धभावरूप परिणमन ही मिथ्यात्व है।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १६१
२. वही, पृष्ठ १६२

अब यहाँ ज्ञान को रोकने वाले अज्ञान की बात कहते हैं। यहाँ आत्मा के अर्थ में जो 'ज्ञान' शब्द आया है, वह त्रिकाली आत्मा के अर्थ में नहीं है, बल्कि आत्मा का ज्ञानरूप से परिणमन होने पर जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उसकी बात है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनंद का कन्द प्रभु है। उसके सन्मुख ढलते हुए जो स्वरूप का ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है तथा वही मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। शास्त्रज्ञान स्वयं सम्यग्ज्ञान नहीं है; क्योंकि यह तो परलक्ष्यी ज्ञान है; अतः अज्ञान ही है। तथा वकालात, डॉक्टरी आदि का लौकिक ज्ञान भी परलक्ष्यी होने से सम्यग्ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। ज्ञान तो उसे कहते हैं जो स्वलक्ष्य से पूर्णानन्द के नाथ ज्ञानस्वरूप निज शुद्धात्मा को जानता-अनुभवता हुआ हो, वही ज्ञान मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। उसे रोकनेवाला एवं उसका विरोधी होने से शेष सब अज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान का राग में व परद्रव्यों के जानने में अटकना या रुकना ही अज्ञान है और यह अज्ञान सम्यग्ज्ञान का विरोधी है।[१]

अब चारित्र का तीसरा बोल कहते हैं - पूर्णानंद के नाथ ज्ञायकमूर्ति भगवान आत्मा में रमने को, उसी में लीन होने को चारित्र कहते हैं।[२]

यहाँ कहते हैं कि स्वरूप में रमणतारूप प्रगट हुए चारित्र में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है। चारित्र कहते ही उसे हैं, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ हो। भगवान आत्मा अकेला आनन्द की खान है। आत्मा की पर्याय में आनन्द की प्रकृष्ट धारा के प्रवाहित होने का नाम ही चारित्र है।[३]

अब कहते हैं कि शुभाशुभभावरूप कषाय परिणाम ही चारित्र का विरोधी परिणाम है, चारित्र को रोकनेवाला भाव है। शरीर की नग्नता तो जड़-माटी की अवस्था है, जो कि दुःख का ही कारण है। आस्रव का भाव तो चारित्र है नहीं। चारित्र तो अपने सिद्ध समान शुद्धात्मा के स्वरूप में रमणता से उत्पन्न

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १६७
२. वही, पृष्ठ १६८
३. वही, पृष्ठ १६९

हुआ अपना समरसीभावरूप परिणाम है। वही मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यह शुभाशुभभाव उस चारित्ररूप स्वभाव को रोकनेवाला भाव है। इसे चाहे व्यवहार कहो, कषाय कहो या चारित्र का विरोधीभाव कहो - ये सब एकार्थवाचक हैं।[१]

उस चारित्र को रोकने वाली कषाय है। दया-दान-व्रत-तप आदि का जो शुभभाव है, वह चारित्र को रोकने वाला है। वह शुभभाव ही स्वयं कर्म है, उसके उदय से अर्थात् उत्पन्न होने से आत्मा के अचारित्रपना होता है। इसीलिए कहा है कि कर्म स्वयं मोक्ष के कारण का तिरोधायी भावस्वरूप होने से उसका निषेध किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि शुभभाव धर्म नहीं है; क्योंकि वह विकारीभाव होने से स्वयं निषेध कर दिया गया है। वह धर्म तो है ही नहीं, धर्म का कारण भी नहीं है, बल्कि धर्म से विरुद्ध स्वभाववाला है।

धर्मी जीवों को भी शुभभाव आता है; परन्तु उसे वह धर्म नहीं मानते, बल्कि हेय मानते है।[२]''

स्वामीजी के उक्त स्पष्टीकरण के बाद कहने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता है।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार की गाथाएँ समाप्त हो रही हैं। विगत सात गाथाओं का तात्पर्य बताते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''पहले तीन गाथाओं में कहा था कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों का, सम्यक्त्वादि का घातक है। बाद की एक गाथा में यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। और इन अन्तिम तीन गाथाओं में कहा है कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है - मिथ्यात्वादिस्वरूप है। इसप्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्ष के कारण का घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारणस्वरूप है; इसलिये निषिद्ध है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १६९

२. वही, पृष्ठ १७१

अशुभ कर्म तो मोक्ष का कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है, इसलिये निषिद्ध ही है; परन्तु शुभकर्म भी कर्म सामान्य में आ जाता है, इसलिये वह भी बाधक ही है; इसलिए निषिद्ध ही है – ऐसा समझना चाहिए।"

अधिकार के समापन के अवसर पर आचार्य अमृतचन्द्र चार कलश लिखते हैं, जिनमें पहला इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना ।
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतु र्भवन् ।
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ॥
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा ।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥ १०९॥

मोक्षार्थियों के लिए समस्त ही कर्म त्याग करने योग्य हैं। जब यह सुनिश्चित है, तब फिर पुण्य और पाप कर्मों की चर्चा ही क्या करना; क्योंकि सभी कर्म त्याज्य होने से पुण्य भला और पाप बुरा यह बात ही कहाँ रह जाती है ? ऐसी स्थिति होने पर सम्यक्त्वादि निजस्वभाव के परिणमन से मोक्ष की कारणभूत निष्कर्म अवस्था का रसिक ज्ञान स्वयं ही दौड़ा चला आता है।

इस कलश में यह स्पष्ट किया गया है कि जब मोक्षार्थियों के लिये सभी कर्म त्याज्य हैं तो फिर इस चर्चा के लिये अवकाश ही कहाँ रह जाता है कि पुण्य भला है और पाप बुरा है। अतः इस चर्चा को विस्तार देने से कोई लाभ नहीं है। अरे भाई ! निजभगवान आत्मा के आश्रय से जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होते है, तब निष्कर्म अवस्था का रसिक ज्ञान सहज ही प्रगट हो जाता है, उसके लिए अलग से कोई पुरुषार्थ करने की अपेक्षा नहीं रहती।

उक्त सन्दर्भ में कलशटीका का निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है –

"शुभक्रियारूप, अशुभक्रियारूप, अन्तर्जल्परूप, बहिर्जल्परूप इत्यादि करतूतिरूप क्रिया अथवा ज्ञानावरणी पुद्गल का पिंड, अशुद्ध रागादिरूप जीव के परिणाम - ऐसा कर्म जीवस्वरूप का घातक है, ऐसा जानकर आमूलचूल त्याज्य है।...

कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन; ज्ञान, चारित्र इन तीनों का मिला हुआ है; पर यहाँ ज्ञानमात्र को मोक्षमार्ग कहा - ऐसा क्यों कहा ?

उसका समाधान ऐसा है - शुद्धस्वरूप ज्ञान में सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र सहज ही गर्भित हैं। इसलिए दोष तो कुछ नहीं, गुण है।"

उक्त कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है -

(इकतीसा सवैया)

मुकतिके साधककौं बाधक करम सब,
आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है ।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महामूढ़, मोखमारगसौं चुक्यौ है ॥
सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान,
ऊरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है ।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारनसरूप ह्वै कै कारजकौं ढुक्यौ है ॥

मुक्ति के साधक के लिए सभी कर्म बाधक ही हैं; क्योंकि अनादिकाल से यह आत्मा कर्मों में ही तो छुपा हुआ है। यह बात सुनिश्चित होने पर भी कोई कहता है कि पापकर्म बुरा है और पुण्यकर्म भला है; किन्तु ऐसा कहने वाला महामूर्ख है और मुक्तिमार्ग से चूका हुआ है, विमुख है। जब सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान उमंग के साथ आगे बढ़ता है तो किसी के रोके रुकता नहीं।

बनारसीदासजी कहते हैं कि आरसी (दर्पण) के समान उज्ज्वल वह ज्ञान स्वयं कारणस्वरूप होकर कार्यरूप परिणमित हो जाता है, सिद्धदशा को प्राप्त कर लेता है।

'पुण्यकर्म भी पाप ही है।' – इस बात को स्पष्ट करने के लिये स्वामीजी आगम प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

"इसी अधिकार में आचार्य जयसेन की टीका में भी यह बात कहते हैं –

'अत्राह शिष्यः जीवादिसद्दहणम् इत्यादि व्यवहाररत्नत्रय व्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति ।

यहाँ आचार्य जयसेन ने शिष्य के मुख में डालकर ऐसा प्रश्न उठाया है कि इस अधिकार में तो जीवादि के श्रद्धानरूप व्यवहाररत्नत्रय का व्याख्यान किया है, फिर इसे पाप अधिकार क्यों कहा गया है ?'

जयसेनाचार्य के ही शब्दों में उत्तर इसप्रकार है –

'यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणं।

यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रय का उपादेयभूत कारण होने से पवित्र है, तथापि बहिर्द्रव्य का आलम्बन होने से एवं पराधीन होने से स्वरूप से पतित करता है, स्वाधीनता को नष्ट करता है, इस अपेक्षा पुण्यरूप व्यवहाररत्नत्रय को पाप कहा गया है।'

व्यवहाररत्नत्रय के कषाय की मंदतारूप शुभभावों को पाप कहने का दूसरा कारण बताते हुए वे लिखते हैं –

'निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयंकारणम् इति निश्चयनयापेक्षया पापं।

निर्विकल्प समाधि में लीन पुरुष व्यवहार के विकल्प के अवलम्बन से स्वरूप से पतित हो जाते हैं। इसकारण भी व्यवहाररत्नत्रय के शुभविकल्पों को निश्चयनय की अपेक्षा पाप कहा गया है।'

इसी क्रम में तीसरा कारण बताते हुए आचार्य जयसेन ही आगे लिखते हैं कि –

'अथवा सम्यक्त्वादि विपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति व पापाधिकारः ।

अथवा सम्यक्त्वादि से विरुद्ध होने से मिथ्यात्वादि को पाप का अधिकार कहा है; क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग सम्यक्‌रत्नत्रय के वीतरागी परिणाम से विरुद्ध होने से पाप है। इसकारण यह पाप अधिकार चलता है - ऐसा कहा गया है।'

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी प्रवचनसार की ७७वीं गाथा में कहा है -

'पुण्य व पाप में कोई अन्तर नहीं है - ऐसा जो नहीं मानता, वह मोह-मिथ्यात्व से आच्छादित है। अथवा पुण्य व पाप में अन्तर नहीं होते हुए भी जो उन दोनों में अन्तर है - ऐसा मानता है, वह मोह से मिथ्यात्व से आच्छादित रहता हुआ अपार संसार में डोलता है।

पुण्य व पाप दोनों ही सामान्यरूप से बन्धरूप होने पर भी जो पुण्य को अच्छा व पाप को बुरा मानता है, वह घोर संसार में रखड़ेगा।'

अहो! मात्र कुन्दकुन्द ही नहीं, सर्व दिगम्बर संत इस सनातन वीतरागी जैनदर्शन के प्रवाह का ही पोषण करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द आज से दो हजार वर्ष पूर्व हुए, आचार्य अमृतचंद्र उनके बाद आज से एक हजार वर्ष पूर्व हुए तथा आचार्य जयसेन आज से ९०० वर्ष पूर्व हुए अर्थात् आचार्य अमृतचन्द्र से १०० वर्ष बाद आचार्य जयसेन हुए। आचार्यों में काल का इतना अन्तर होते हुए भी सभी दिगम्बर संतों का एक ही कथन है कि देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा, बारह व्रतों व पाँच महाव्रतों का भाव तथा शास्त्रों का परलक्ष्यी ज्ञान ये सभी निश्चय की अपेक्षा अर्थात् स्वभाव से पतित करानेवाले है।[१]''

उक्त कथनों से यह सुनिश्चित ही है कि एक प्रकार से पुण्य भी पाप ही है, मुक्तिमार्ग में पाप के समान ही हेय है, त्याज्य है और उसे मुक्ति का कारण मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १७५-१७६

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि यद्यपि पुण्यभावरूप कर्म भी मुक्तिमार्ग का विरोधी भाव है; तथापि ज्ञानधारा और कर्मधारा का एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

(शार्दूलविक्रीडित)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ्न सा।
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ॥
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्।
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

(हरिगीत)

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो॥
अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय।
मुक्तिमारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय॥११०॥

जबतक ज्ञान की कर्मविरति पूर्णता को प्राप्त नहीं होती; तबतक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्रों में कहा है। तात्पर्य यह है कि, तबतक ज्ञानधारा और कर्मधारा के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है। किन्तु इतना विशेष है कि अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह बंध का कारण है और जो स्वतः विमुक्त परमज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि, जबतक शुभाशुभ कर्म पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाते; तबतक शुभाशुभकर्मधारा और सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान एवं आंशिक विरतिरूप ज्ञानधारा एक आत्मा में एक साथ रहती हैं; क्योंकि उनमें सहावस्थान विरोध नहीं है, एक साथ में रहने में कोई बाधा नहीं है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि उन दोनों धाराओं के एक साथ रहने पर भी दोनों के कार्य अलग-अलग ही रहते हैं। कर्मधारा बंध करती है और ज्ञानधारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

इस छन्द का भाव नाटक समयसार में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

(सवैया इकतीसा)

जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौं अंतरातमामैं धारा दोई बरनी ।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दूहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी-न्यारी धरनी ॥
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी ।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी ॥

जबतक अष्टकर्मों का सम्पूर्णतः नाश नहीं हो जाता, तबतक अन्तरात्माओं के दो धारायें कही गई हैं। उनमें एक तो ज्ञानधारा और दूसरी शुभाशुभ कर्मधारा है। दोनों धाराओं की सत्ता भी पृथक्-पृथक् है और प्रकृति भी जुदी-जुदी है। इनमें इतनी बात विशेष कहने योग्य है कि कर्मधारा बंधरूप है और अनेक प्रकार के कर्मबंध करनेवाली है; इसकारण आत्मशक्ति को पराधीन करनेवाली है और ज्ञानधारा मोक्षरूप है, मोक्ष को करनेवाली है, दुःखों को दूर करनेवाली है और संसार-सागर से पार उतारनेवाली है।

इस कलश में आये भावों का स्पष्टीकरण पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार करते हैं -

"जबतक यथाख्यात चारित्र नहीं होता, तबतक सम्यक्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं, शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञान के परस्पर विरोध है, वैसे कर्म सामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प या व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्धस्वरूप का विचार तक भी - कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।"

देखो, यहाँ व्रत-नियम के विकल्पों और शुद्धस्वरूप के विचारों को भी कर्मबंध का कारण कहा है।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

"भगवान केवली सम्पूर्ण अबन्ध हैं, मिथ्यादृष्टि को सम्पूर्ण बन्ध है और मोक्षमार्गी समकिती साधक जीव को कुछ बन्ध व कुछ अबंध है। समकिती धर्मी को कुछ कर्मों के बंध का अभाव है और कुछ कर्मबन्ध का सद्भाव है। दोनों एकसाथ होते हैं। द्रव्यस्वभाव के स्पर्श से साधक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव प्रगट होता है, वह ज्ञान ही अकेला मोक्ष का कारण है तथा जितना शुभाशुभभाव से परिणमन किया है, उतना बंधन का कारण है। ज्ञान स्वतः विमुक्त है, इसकारण ज्ञान ही अकेला मोक्ष का कारण है।[१]

यही बात कलश टीकाकार राजमलजी ने ११०वें कलश की टीका में कही है -

'यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा कि मिथ्यादृष्टि का यतिपना जो क्रियारूप है, वह बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि का शुभक्रियारूप यतिपना है, वह तो मोक्ष का कारण है; क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया-व्रत-तप-संयमरूप क्रिया - दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं। - ऐसी प्रतीति कुछ अज्ञानी जीव करते हैं।

वहाँ समाधान यह है कि - जितनी शुभ-अशुभक्रिया, बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यों के विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्मबन्धन का कारण है। ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का ऐसा भेद तो कहीं पर नहीं है, ऐसी करतूत से ऐसा बन्ध है। शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है, जो कि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्ध ज्ञान भी है, क्रियारूप परिणमन भी है; तो भी क्रियारूप जो परिणाम उससे केवल बंध होता है, कर्म का क्षय एक अंश भी नहीं होता; ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १८७

सहारा किसका ? उसी काल में शुद्धस्वरूप-अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान से कर्मक्षय होता है, एक अंशमात्र भी बन्ध नहीं होता, वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है।'

तथा वहीं पर आगे प्रश्न उठाकर कहा है कि - 'एक जीव में एक ही काल में ज्ञान व क्रिया दोनों ही किसप्रकार होते हैं ? समाधान यह है कि विरुद्ध तो कुछ नहीं है। कितने ही कालतक दोनों होते हैं, ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, परन्तु विरोध जैसा लगता है, तथापि सब अपने-अपने स्वरूप से हैं, कोई किसी का विरोध तो करते नहीं हैं।'

इसप्रकार ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अपने में एकाग्र होकर प्रवर्तमान जितनी ज्ञानधारा है, उतना-उतना संवर-निर्जरा का कारण है; उसमें किंचित् भी बंध का कारण नहीं है और बहिर्मुखपने से प्रवर्तती जितनी शुभाशुभ रागधारा है, उतनी बंध का कारण है, उसमें एक अंश भी संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। भावलिंगी मुनिवरों को जो पंचमहाव्रत के परिणाम हैं, वे बन्ध के कारण हैं तथा एक शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है। कथंचित् ज्ञानधारा व कथंचित् रागधारा मोक्ष का कारण हो - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

जगत के जीवों को शुभभाव में धर्मबुद्धि का संस्कार पड़ गया है, उसके प्रति विशेष लगाव हो गया है, उसमें से धर्मबुद्धि का संस्कार छूटता नहीं है; इसकारण शुभभाव से लाभ होता है - ऐसा कोई कहते हैं तो प्रसन्न हो जाते हैं, वृत्ति के अनुसार उपदेश मिला तो ठीक लगता है। परन्तु भाई ! यह मान्यता बड़ी भारी मिथ्यात्वनामक शल्य है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यह बात एकदम साफ हो गई है कि भले ही छद्मस्थ ज्ञानी धर्मात्माओं के ज्ञानधारा और कर्मधारा एक साथ रहती हों; तथापि यह बात तो स्पष्ट ही है कि कर्मधारा बंध का ही कारण है, इस कारण हेय है, त्याज्य है और मुक्ति का कारण होने से ज्ञानधारा उपादेय है, विधेय है, साक्षात् धर्म है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १८९-१९०

अब आगामी कलश में कहते हैं कि कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्त पक्षपाती अज्ञानी जीव संसार-सागर में डूबते हैं और इनका बेलेंस बनाकर चलनेवाले स्याद्वादी संसार-सागर से पार होते हैं। कलश मूलतः इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति यत् ।
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदति स्वच्छंदमंदोद्यमाः ॥
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं ।
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥ १११ ॥

(हरिगीत)

कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों ।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छंद हों ॥
जो ज्ञानमय हो परिणमित परमाद के वश में न हों ।
कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों ॥ १११ ॥

कर्मनय के अवलंबन में तत्पर कर्म के पक्षपाती जीव संसार-सागर में डूबे हुए हैं; क्योंकि वे ज्ञान (आत्मा) को नहीं जानते और ज्ञाननय के इच्छुक पक्षपाती जीव भी डूबे हुये हैं; क्योंकि वे स्वच्छंदता से अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं। तात्पर्य यह है कि वे स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते और विषय-कषाय में वर्तते हैं। किन्तु जो जीव निरन्तर ज्ञानरूप होते हुये ज्ञानरूप परिणमित होते हुये कर्म नहीं करते, शुभाशुभ कर्मों से विरक्त रहते हैं और कभी प्रमाद के वश भी नहीं होते। वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं।

उक्त कलश का भाव पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है –

"यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध करते हैं; क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है।

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बर को मोक्ष का कारण

जानकर उसमें तत्पर रहते हैं, उसका पक्षपात करते हैं। ऐसे कर्मनय के पक्षपाती लोग - जो कि ज्ञान को तो नहीं जानते, कर्मनय में ही खेदखिन्न हैं; वे संसार में डूबते हैं।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूप को यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से अथवा अपने आप ही अन्तरंग में ज्ञान का स्वरूप मिथ्याप्रकार से कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं। वे अपनी परिणति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपने को सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं - ऐसे ज्ञाननय के पक्षपाती लोग जो कि स्वरूप का कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभ परिणामों को छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों में वर्तते हैं, वे भी संसारसमुद्र में डूबते हैं।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मों को (अर्थात् शुभाशुभभावों को) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणति को ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं; किन्तु शुभ कर्मों को भी छोड़कर, स्वरूप में स्थिर होने के लिये निरंतर उद्यमी रहते हैं - वे संपूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। जबतक, पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता; तबतक - यद्यपि स्वरूपस्थिरता का आन्तरिक-आलम्बन (अन्तः साधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है; तथापि - आन्तरिक आलम्बन लेनेवाले को जो बाह्य आलम्बनरूप होते हैं ऐसे (शुद्ध स्वरूप के विचार आदि) शुभ परिणामों में वे जीव हेयबुद्धि से प्रवर्तते हैं; किन्तु शुभ कर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मों का नाश करके संसार से निवृत्त होते हैं।''

नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया गया है -

(सवैया इकतीसा)

समुझैं न ज्ञान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहल मैं ।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूढे हैं चहल मैं ॥
जथा जोग करम करैं पै ममता न धरैं,
रहैं सावधान ग्यान ध्यान की टहल मैं ।
तेई भवसागर के ऊपर ह्वै तरैं जीव,
जिन्हि को निवास स्यादवाद के महल मैं ॥

जो जीव ज्ञान (आत्मा) को तो जानते नहीं है और ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म करने से मोक्ष होगा – ऐसे जीव मिथ्यात्व की गहल (अर्धमूर्च्छितावस्था अथवा पागलपन) में विकल (आकुलित) हो रहे हैं।

जो जीव ज्ञान का पक्ष ग्रहण करके कहते हैं कि आत्मा तो सदा अबंध ही है। ऐसा मानकर स्वच्छंद आचरण करते हैं; वे जीव भी भव-पंक में बूड़े (डूबे-फंसे) हैं। किन्तु जो यथायोग्य भूमिकानुसार शुभाचरण भी आचरते हैं; किन्तु उसमें ममत्व धारण नहीं करते; उसमें एकत्व, ममत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व स्थापित नहीं करते; तथा आत्मा के ज्ञान और ध्यान में सदा सावधान रहते हैं। इसप्रकार जिनका निवास स्याद्वादरूपी महल में है, वे जीव संसार-सागर से पार हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्याद्वादी ही संसार-सागर के पार होते हैं।

इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया के एकान्त को छोड़कर जो आत्मज्ञान और भूमिकानुसार आचरण को उत्पन्नकर आत्मोन्मुखी उग्रपुरुषार्थ करते हैं; वे ही संसार-सागर को पारकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस संदर्भ में स्वामीजी के विचार इसप्रकार हैं –

"इस कलश में कर्मनय व ज्ञाननय का अन्तर स्पष्ट करते हुये दोनों नयों के पक्षपातियों को अज्ञानी कहा है; क्योंकि कर्मनय का पक्षपाती शुभक्रिया में अटका है। वह शुभक्रिया को ही अपना कर्म यानि कर्त्तव्य मान बैठा है एवं

ज्ञाननय का पक्षपाती बातें तो बड़ी-बड़ी करता है; किन्तु जीवन में स्वच्छंदतया वर्तता है। एक जड़क्रिया में मग्न है, दूसरा स्वच्छन्दता के पोषण में।[१]

जिनको अन्तरंग में चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने की ओर झुकाव तो हुआ नहीं, केवल बाहर-बाहर से ज्ञान की बातें करते हैं, वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं। तथा जो स्वभाव में दृष्टि की एकाग्रता का विचार तो करते हैं; किन्तु जिन्होंने स्वरूप का प्रत्यक्ष आस्वाद नहीं किया, वे भी सम्यक्त्वसन्मुख-मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ दो प्रकार के जीव लिए हैं - एक शुभराग की क्रिया में धर्म माननेवाले और दूसरे ज्ञान की मात्र कोरी बातें करनेवाले। एक शुभराग को अनेक क्रियाओं में रुक करके मिथ्यात्वसहित होने से संसार में डूबते हैं तथा दूसरे पुरुषार्थरहित प्रमादी होकर विषय-कषाय में स्वछन्द वर्तते हुए संसार समुद्र में डूबेंगे।

यहाँ कहते हैं कि जो जीव ज्ञानरूप परिणमता हुआ कर्म नहीं करता, वह भवसमुद्र से तिर जाता है। ज्ञानी कर्म नहीं करता, इसका अर्थ यह है कि अनुभव के काल में ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता तथा ज्ञानी को वर्तमान कमजोरी के कारण जो राग होता है, उसका भी वह कर्त्ता नहीं है। अर्थात् उसके अभिप्राय में पर के व राग के कर्त्तृत्वभाव का अभाव हो गया है। पर में व राग में अब उसके एकत्व व स्वामित्व नहीं रहा, इसकारण अब वह कर्म का कर्त्ता नहीं है। राग के वशीभूत होकर वह मिथ्यात्व में नहीं जाता। इसतरह निरंतर स्वरूप में उद्यमशील रहकर एवं प्रमादरहित होकर संसार से तिर जाता है। जो स्वरूप में झुकता है, उसमें लीन होता है तथा उसी में उद्यमवंत रहता है, प्रयत्नशील रहता है, वह मोक्षमार्गी है। तथा जो स्वरूप से विमुख है, वह मिथ्यादृष्टि है, संसार-सागर में डूबनेवाला है।[२]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १९३
२. वही, पृष्ठ १९४

इसप्रकार इस कलश में यह कहा गया है कि कुछ लोग आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना, आत्मानुभव किये बिना; व्रत-उपवासादि क्रियायें करके ही अपने को धर्मात्मा मान लेते हैं। ऐसे जीव कर्मनय के पक्षपाती हैं, एकान्ती हैं; इस कारण वे संसार-सागर में डूबने वाले ही हैं।

दूसरे कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जो आत्मा की बातें तो बहुत करते हैं, पर आत्मा का अनुभव उन्हें नहीं होता। आत्मा के अनुभव बिना ही स्वयं को ज्ञानी मान लेने वाले वे लोग स्वच्छन्द हो जाते हैं, प्रमादी हो जाते हैं; भूमिकानुसार होने वाले सदाचरण की भी उपेक्षा करते हैं। ऐसे लोग ज्ञाननय के पक्षपाती हैं, एकान्ती हैं; इसकारण संसार में ही भटकने वाले हैं।

ज्ञानी धर्मात्मा तो आत्मज्ञानी होते हैं, आत्मानुभवी होते हैं और भूमिकानुसार उनका जीवन भी पवित्र होता है, सदाचारी होता है। ऐसा होने पर भी वे अपने उस सदाचरण को, भूमिकानुसार होने वाले शुभभावों को धर्म नहीं मानते। उनकी दृष्टि में धर्म तो आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाला निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन ही है।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार समाप्त हो रहा है। अतः अन्त मंगलाचरण के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र एक कलश लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(मन्दक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं ।
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ॥
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि ।
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥ ११२॥

(हरिगीत)

जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरापान से ।
पर भेद इनमें है नहीं जाना है सम्यग्ज्ञान से ॥
यह ज्ञानज्योति तमविरोधी खेले केवलज्ञान से ।
जयवंत हो इस जगत में जगमगै आतमज्ञान से ॥ ११२॥

मोहरूपी मदिरा के पान से उत्पन्न भ्रम रस के भार से शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को नचानेवाले समस्त शुभाशुभ कर्मों को अपने ही बल द्वारा जड़मूल से उखाड़कर अज्ञानरूपी अंधकार को नाश करनेवाली सहज विकासशील, परमकला केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करनेवाली अत्यन्त सामर्थ्य युक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई।

यह कलश पुण्यपापाधिकार का अन्तिम कलश है। इसलिये इसमें अधिकार के अन्त में होनेवाले मंगलाचरण के रूप में उसी ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है, जिसका स्मरण आरंभ से ही मंगलाचरण के रूप में करते आ रहे हैं। इस कलश में समागत सभी विशेषण ज्ञानज्योति की महिमा बढ़ाने वाले हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पुण्यपापाधिकार का समापन कलश होने से यहाँ उस ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है, जिसने शुभ और अशुभ कर्म में भेद मानने रूप अज्ञान का नाश किया है।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार समाप्त हो रहा है। अत: आचार्य अमृतचन्द्रदेव अधिकार की समाप्ति का सूचक वाक्य लिखते हैं जो इसप्रकार है -

"इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रान्तम् ।

पुण्य-पापरूप से दो पात्रों के रूप में नाचने वाला कर्म अब एक पात्ररूप होकर रंगभूमि में से बाहर निकल गया।"

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि इस ग्रन्थराज को यहाँ नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पुण्यपापाधिकार में कर्मरूपी एक पात्र पुण्य और पाप - ऐसे दो वेष बनाकर रंगभूमि में प्रविष्ट हुआ था; किन्तु जब वह सम्यग्ज्ञान में यथार्थ भासित हो गया तो वह नकली वेष त्यागकर अपने असली एक रूप में आ गया और रंगभूमि से बाहर निकल गया।

अधिकार के अन्त में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा प्रत्येक अधिकार के समान यहाँ भी एक छन्द लिखते हैं, जिसमें अधिकार की समस्त विषयवस्तु को समेट लिया गया है। वह छन्द इसप्रकार है -

(सवैया तेईसा)

आश्रय कारण रूप सवादसुं भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्यरुपाप शुभाशुभ भावनि बन्ध भये सुखदुःखकरारे ।
ज्ञान भये दोऊ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे ।।

आश्रय, कारण, स्वरूप और अनुभव इन चार के माध्यम से पुण्य और पाप में भिन्नता का जो विचार अज्ञानी ने प्रस्तुत किया था या अज्ञानावस्था में खड़ा हुआ था, उसके अनुसार शुभभाव पुण्य बंध के और अशुभभाव पापबंध के कारण होकर सुख-दुःख करने वाले थे; किन्तु सम्यग्ज्ञानज्योति जगने पर ज्ञानी ने ऐसा विचार किया कि दोनों एक ही हैं। इसप्रकार ज्ञानी जीवों ने उन्हें एक रूप में देखा और दोनों को ही बंध के कारण जानकर दोनों का ही त्याग करके ज्ञानी मुनिराज मोक्ष को पधार गये। तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त करने का उपाय तो इन दोनों का अभाव करने रूप ही है।

इसप्रकार यहाँ यह पुण्यपापाधिकार समाप्त हुआ। •

अतः विषय-कषाय, व्यापार-धन्धा और व्यर्थ के वादविवादों से समय निकालकर वीतरागवाणी का अध्ययन करो, मनन करो, चिन्तन करो, बन सके तो दूसरों को भी पढ़ाओ, पढ़ने की प्रेरणा दो, इसे जन-जन तक पहुँचाओ, घर-घर में बसाओ। स्वयं न कर सको तो यह काम करनेवालों को सहयोग अवश्य करो। वह भी न कर सको तो कम से कम इस भले काम की अनुमोदना ही करो। बुरी होनहार से यह भी संभव न हो तो कम से कम इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। इस काम में लगे लोगों की टाँग तो मत खींचो! इसके अध्ययन, मनन को निरर्थक तो मत बताओ, इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। यदि आप इस महान् कार्य को नहीं कर सकते, करने के लिए लोगों को प्रेरणा नहीं दे सकते, तो कम से कम इस कार्य में लगे लोगों को निरुत्साहित तो मत करो, उनकी खिल्ली तो मत उड़ाओ। आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १७५

समयसार पद्यानुवाद

कर्त्ताकर्माधिकार

आतमा अर आस्त्रवों में भेद जब जाने नहीं ।
हैं अज्ञ तबतक जीव सब क्रोधादि में वर्तन करें ॥ ६९ ॥

क्रोधादि में वर्तन करें तब कर्म का संचय करें ।
हो कर्मबंधन इसतरह इस जीव को जिनवर कहें ॥ ७० ॥

आतमा अर आस्त्रवों में भेद जाने जीव जब ।
जिनदेव ने ऐसा कहा कि नहीं होवे बंध तब ॥ ७१ ॥

इन आस्त्रवों की अशुचिता विपरीतता को जानकर ।
आतम करे उनसे निवर्तन दुःख कारण मानकर ॥ ७२ ॥

मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ ।
थित लीन निज में ही रहूँ सब आस्त्रवों का क्षय करूँ ॥ ७३ ॥

ये सभी जीव निबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं ।
दुःखरूप दुखफल जानकर इनसे निवर्तन बुध करें ॥ ७४ ॥

करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को ।
जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हों सद्ज्ञान को ॥ ७५ ॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७६ ॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति निज परिणाम सब ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७७ ॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
पुद्गल करम का नंतफल ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७८ ॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
इस ही तरह पुद्गल दरव निजभाव से ही परिणमें ॥ ७९ ॥

जीव के परिणाम से जड़कर्म पुद्गल परिणमें ।
पुद्गल करम के निमित से यह आतमा भी परिणमें ॥ ८० ॥

आतम करे ना कर्मगुण ना कर्म आतमगुण करे ।
पर परस्पर परिणमन में दोनों परस्पर निमित हैं ॥ ८१ ॥

बस इसलिए यह आतमा निजभाव का कर्ता कहा ।
अन्य सब पुद्गलकरमकृत भाव का कर्ता नहीं ॥ ८२ ॥

हे भव्यजन ! तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा ।
निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता ॥ ८३ ॥

अनेक विध पुद्गल करम को करे भोगे आतमा ।
व्यवहारनय का कथन है यह जान लो भव्यात्मा ॥ ८४ ॥

पुद्गल करम को करे भोगे जगत में यदि आतमा ।
द्विक्रिया अव्यतिरिक्त हों संमत न जो जिनधर्म में ॥ ८५ ॥

यदि आतमा जड़भाव चेतनभाव दोनों को करे ।
तो आतमा द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि अवतरे ॥ ८६ ॥

मिथ्यात्व-अविरति-जोग-मोहाज्ञान और कषाय हैं ।
ये सभी जीवाजीव हैं ये सभी द्विविधप्रकार हैं ॥ ८७ ॥

मिथ्यात्व आदि अजीव जो वे सभी पुद्गल कर्म हैं ।
मिथ्यात्व आदि जीव हैं जो वे सभी उपयोग हैं ॥ ८८ ॥

मोहयुत उपयोग के परिणाम तीन अनादि से ।
जानों उन्हें मिथ्यात्व अविरतभाव अर अज्ञान ये ॥ ८९ ॥

यद्यपि उपयोग तो नित ही निरंजन शुद्ध है ।
जिसरूप परिणत हो त्रिविध वह उसी का कर्ता बने ॥ ९० ॥

आतम करे जिस भाव को उस भाव का कर्ता बने ।
बस स्वयं ही उस समय पुद्गल कर्मभावे परिणमें ॥ ९१ ॥

पर को करे निजरूप जो पररूप जो निज को करे ।
अज्ञानमय वह आतमा पर करम का कर्ता बने ॥ ९२ ॥

पररूप ना निज को करे पर को करे निज रूप ना ।
अकर्ता रहे पर करम का सद्ज्ञानमय वह आतमा ॥ ९३ ॥

त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं क्रोध हूँ' इम परिणमें ।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ॥ ९४ ॥

त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं धर्म हूँ' इम परिणमें ।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ॥ ९५॥

इसतरह यह मंदबुद्धी स्वयं के अज्ञान से ।
निज द्रव्य को पर करे अरु परद्रव्य को अपना करे ॥ ९६॥

बस इसतरह कर्ता कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ।
जो जानते यह तथ्य वे छोड़ें सकल कर्तापना ॥ ९७॥

व्यवहार से यह आतमा घटपटरथादिक द्रव्य का ।
इन्द्रियों का कर्म का नोकर्म का कर्ता कहा ॥ ९८॥

परद्रव्यमय हो जाय यदि पर द्रव्य में कुछ भी करें ।
परद्रव्यमय होता नहीं बस इसलिए कर्ता नहीं ॥ ९९॥

ना घट करे ना पट करे ना अन्य द्रव्यों को करे ।
कर्ता कहा तत्रूपपरिणत योग अर उपयोग का ॥ १००॥

ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं ।
उनको करे ना आतमा जो जानते वे ज्ञानि हैं ॥ १०१॥

निजकृत शुभाशुभभाव का कर्ता कहा है आतमा ।
वे भाव उसके कर्म हैं वेदक है उनका आतमा ॥ १०२॥

जब संक्रमण ना करे कोई द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ।
तब करे कैसे परिणमन इक द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ॥ १०३॥

कुछ भी करे ना जीव पुद्गल कर्म के गुण-द्रव्य में ।
जब उभय का कर्ता नहीं तब किसतरह कर्ता कहें? ॥ १०४॥

बंध का जो हेतु उस परिणाम को लख जीव में ।
करम कीने जीव ने बस कह दिया उपचार से ॥ १०५॥

रण में लड़ें भट पर कहे जग युद्ध राजा ने किया ।
बस उसतरह द्रवकर्म आतम ने किए व्यवहार से ॥ १०६॥

ग्रहे बाँधे परिणमावे करे या पैदा करे ।
पुद्गल दरव को आतमा व्यवहारनय का कथन है ॥ १०७॥

गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से ।
त्यों जीव पुद्गल द्रव्य का कर्ता कहा व्यवहार से ॥ १०८॥

मिथ्यात्व अरु अविरमण योग कषाय के परिणाम हैं ।
सामान्य से ये चार प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ॥ १०९॥
मिथ्यात्व आदि सयोगि-जिन तक जो कहे गुणथान हैं ।
बस ये त्रयोदश भेद प्रत्यय के कहे जिनसूत्र में ॥ ११०॥
पुद्गल करम के उदय से उत्पन्न ये सब अचेतन ।
करम के कर्ता हैं ये वेदक नहीं है आतमा ॥ १११॥
गुण नाम के ये सभी प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ।
कर्ता रहा ना जीव ये गुणथान ही कर्ता रहे ॥ ११२॥
उपयोग जीव अनन्य ज्यों यदि त्यों हि क्रोध अनन्य हो ।
तो जीव और अजीव दोनों एक ही हो जायेंगे ॥ ११३॥
यदि जीव और अजीव दोनों एक हों तो इसतरह ।
का दोष प्रत्यय कर्म अर नोकर्म में भी आयगा ॥ ११४॥
क्रोधान्य है अर अन्य है उपयोगमय यह आतमा ।
तो कर्म अरु नोकर्म प्रत्यय अन्य होंगे क्यों नहीं ? ॥ ११५॥
यदि स्वयं ही कर्मभाव से परिणत न हो ना बंधे ही ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा कर्ममय पुद्गल दरव ॥ ११६॥
कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ परिणमित होंगी नहीं ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ ११७॥
यदि परिणमावे जीव पुद्गल दरव को कर्मत्व में ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ ११८॥
यदि स्वयं ही परिणमे वे पुद्गल दरव कर्मत्व में ।
मिथ्या रही यह बात उनको परिणमावें आतमा ॥ ११९॥
जड़कर्म परिणत जिसतरह पुद्गल दरव ही कर्म है ।
जड़ज्ञान-आवरणादि परिणत ज्ञान-आवरणादि हैं ॥ १२०॥
यदि स्वयं ही ना बंधे अर क्रोधादिमय परिणत न हो ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा जीव तेरे मत विषें ॥ १२१॥
स्वयं ही क्रोधादि में यदि जीव ना हो परिणमित ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ १२२॥

यदि परिणमावे कर्मजड़ क्रोधादि में इस जीव को ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ १२३॥

यदि स्वयं ही क्रोधादि में परिणमित हो यह आतमा ।
मिथ्या रही यह बात उसको परिणमावे कर्म जड़ ॥ १२४॥

क्रोधोपयोगी क्रोध है मानोपयोगी मान है ।
मायोपयोगी माया है लोभोपयोगी लोभ है ॥ १२५॥

जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने ।
ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय ॥ १२६॥

अज्ञानमय हैं भाव इससे अज्ञ कर्ता कर्म का ।
बस ज्ञानमय हैं इसलिए ना विज्ञ कर्ता कर्म का ॥ १२७॥

ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय ।
बस इसलिए सद्ज्ञानियों के भाव हों सद्ज्ञानमय ॥ १२८॥

अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय ।
बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ॥ १२९॥

स्वर्णनिर्मित कुण्डलादि स्वर्णमय ही हों सदा ।
लोहनिर्मित कटक आदि लोहमय ही हों सदा ॥ १३०॥

इस ही तरह अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ।
इस ही तरह सब भाव हों सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय ॥ १३१॥

निजतत्त्व का अज्ञान ही बस उदय है अज्ञान का ।
निजतत्त्व का अश्रद्धान ही बस उदय है मिथ्यात्व का ॥ १३२॥

अविरमण का सद्भाव ही बस असंयम का उदय है ।
उपयोग की यह कलुषिता ही कषायों का उदय है ॥ १३३॥

शुभ अशुभ चेष्टा में तथा निवृत्ति में या प्रवृत्ति में ।
जो चित्त का उत्साह है वह ही उदय है योग का ॥ १३४॥

इनके निमित्त के योग से जड़ वर्गणाएँ कर्म की ।
परिणमित हों ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म में ॥ १३५॥

इसतरह वसुविध कर्म से आबद्ध जिय जब हो तभी ।
अज्ञानमय निजभाव का हो हेतु जिय जिनवर कही ॥ १३६॥

यदि कर्ममय परिणाम पुद्गल द्रव्य का जिय साथ हो ।
तो जीव भी जड़कर्मवत् कर्मत्व को ही प्राप्त हो ॥ १३७॥

किन्तु जब जियभाव बिन ही एक पुद्गल द्रव्य का ।
यह कर्ममय परिणाम है तो जीव जड़मय क्यों बने ? ॥ १३८॥

इस जीव के रागादि पुद्गलकर्म में भी हों यदी ।
तो जीववत जड़कर्म भी रागादिमय हो जावेंगे ॥ १३९॥

किन्तु जब जड़कर्म बिन ही जीव के रागादि हों ।
तब कर्मजड़ पुद्गलमयी रागादिमय कैसे बनें ? ॥ १४०॥

कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का ।
पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का ॥ १४१॥

अबद्ध है या बद्ध है जिय यह सभी नयपक्ष हैं ।
नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है ॥ १४२॥

दोनों नयों को जानते पर ना ग्रहे नयपक्ष जो ।
नयपक्ष से परिहीन पर निज समय से प्रतिबद्ध वे ॥ १४३॥

विरहित सभी नयपक्ष से जो सो समय का सार है ।
है वही सम्यग्ज्ञान एवं वही समकित सार है ॥ १४४॥

पुण्यपापाधिकार

सुशील हैं शुभ कर्म और अशुभ करम कुशील हैं ।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं ? ॥ १४५॥

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥ १४६॥

दुःशील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो ।
दुःशील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ॥ १४७॥

जगतजन जिसतरह कुत्सितशील जन को जानकर ।
उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते ॥ १४८॥

बस उसतरह ही कर्मकुत्सित शील हैं - यह जानकर ।
निजभावरत जन कर्म से संसर्ग को हैं त्यागते ॥ १४९॥

विरक्त शिव रमणी वरें अनुरक्त बाँधे कर्म को ।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ॥ १५० ॥
परमार्थ है है ज्ञानमय है समय शुध मुनि केवली ।
इसमें रहें थिर अचल जो निर्वाण पावें वे मुनी ॥ १५१ ॥
परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
सब बालतप हैं बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ॥ १५२ ॥
व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें ।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ती करें ॥ १५३ ॥
परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते ।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते ॥ १५४ ॥
जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
रागादि का परिहार चारित - यही मुक्तीमार्ग है ॥ १५५ ॥
विद्वानगण भूतार्थ तज वर्तन करें व्यवहार में ।
पर कर्मक्षय तो कहा है परमार्थ-आश्रित संत के ॥ १५६ ॥
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो मिथ्यात्व मल के लेप से ॥ १५७ ॥
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सद्ज्ञान भी त्यों नष्ट हो अज्ञान मल के लेप से ॥ १५८ ॥
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
चारित्र भी त्यों नष्ट होय कषायमल के लेप से ॥ १५९ ॥
सर्वदर्शी सर्वज्ञानी कर्मरज आछन्न हो ।
संसार को सम्प्राप्त कर सबको न जाने सर्वतः ॥ १६० ॥
सम्यक्त्व प्रतिबन्धक करम मिथ्यात्व जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है सदा ॥ १६१ ॥
सद्ज्ञान प्रतिबन्धक करम अज्ञान जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने - यह जानना ॥ १६२ ॥
चारित्र प्रतिबन्धक करम जिन ने कषायों को कहा ।
उसके उदय से जीव चारित्रहीन हो – यह जानना ॥ १६३ ॥

समयसार कलश पद्यानुवाद

कर्त्ताकर्माधिकार

(हरिगीत)

मैं एक कर्ता आत्मा क्रोधादि मेरे कर्म सब।
यही कर्ताकर्म की है प्रवृत्ति अज्ञानमय ॥
शमन करती इसे प्रगटी सर्व विश्व विकाशनी।
अतिधीर परमोदात्त पावन ज्ञानज्योति प्रकाशनी ॥ ४६॥

परपरणति को छोड़ती अर तोड़ती सब भेदभ्रम।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित हुई पावन ज्योति जब ॥
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को है कहाँ अवकाश तब।
अर किसतरह हो कर्मबंधन जगी जगमग ज्योति जब ॥ ४७॥

(सवैया इकतीसा)

इसप्रकार जान भिन्नता विभावभाव की,
कर्तृत्व का अहं विलायमान हो रहा।
निज विज्ञानघनभाव गजारूढ़ हो,
निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥
जगत का साक्षी पुरुषपुराण यह,
अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा।
अहो सद्ज्ञानवंत दृष्टिवंत यह पुमान,
जग-मग ज्योतिमय प्रकाशमान हो रहा ॥ ४८॥

तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में।
कर्त्ता-कर्म भाव का बनना असंभव है,
व्याप्य-व्यापकभाव संबंध के अभाव में।
इस भाँति प्रबल विवेक दिनकर से ही,
भेद अंधकार लीन निज ज्ञानभाव में।
कर्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में ॥ ४९॥

निजपरपरिणति जानकार जीव यह,
परपरिणति को करता कभी नहीं ।
निजपरपरिणति अजानकार पुद्‌गल,
परपरिणति को करता कभी नहीं ॥
नित्य अत्यन्त भेद जीव-पुद्‌गल में,
करता-करमभाव उनमें बने नहीं,
ऐसो भेदज्ञान जबतक प्रगटे नहीं,
करता-करम की प्रवृत्ती मिटे नहीं ॥ ५० ॥

(हरिगीत)

कर्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है ।
है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं ॥ ५१ ॥
अनेक होकर एक है हो परिणमित बस एक ही ।
परिणाम हो बस एक का हो परिणति बस एक की ॥ ५२ ॥
परिणाम दो का एक ना मिलकर नहीं दो परिणमे ।
परिणति दो की एक ना बस क्योंकि दोनों भिन्न हैं ॥ ५३ ॥
कर्ता नहीं दो एक के हों एक के दो कर्म ना ।
ना दो क्रियायें एक की हों क्योंकि एक अनेक ना ॥ ५४ ॥
'पर को करूं मैं' - यह अहं अत्यन्त ही दुर्वार है ।
यह है अखण्ड अनादि से जीवन हुआ दुःस्वार है ॥
भूतार्थनय के ग्रहण से यदि प्रलय को यह प्राप्त हो ।
तो ज्ञान के घनपिण्ड आतम को कभी न बंध हो ॥ ५५ ॥

(दोहा)

परभावों को पर करे आतम आतमभाव ।
आप आपके भाव हैं पर के हैं परभाव ॥ ५६ ॥

(कुण्डलिया)

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज ।
भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास ॥
समझे मीठी घास नाज को न पहिचाने ।
त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने ॥
पुण्य-पाप में धार एकता शून्य हिया है ।
अरे शिखरणी पी माने गो दूध पिया है ॥ ५७ ॥

(हरिगीत)

अज्ञान से ही भागते मृग रेत को जल जानकर ।
अज्ञान से ही डरे तम में रस्सी विषधर मानकर ॥
ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो ।
बातोद्वेलित उदधिवत कर्ता बने आकुलित हो ॥ ५८॥

दूध जल में भेद जाने ज्ञान से बस हंस ज्यों ।
सद्ज्ञान से अपना-पराया भेद जाने जीव त्यों ॥
जानता तो है सभी करता नहीं कुछ आतमा ।
चैतन्य में आरूढ़ नित ही यह अचल परमातमा ॥ ५९॥

(अडिल्ल छन्द)

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की ।
और शीतलता सहज ही नीर की ॥
व्यंजनों में है नमक का क्षारपन ।
ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन ॥
क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता ।
अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता ॥
इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा ।
अपने रस से भरा हुआ यह आतमा ॥ ६०॥

(सोरठा)

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय ।
करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आतमा ॥ ६१॥
ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या ?
कर्ता पर का जीव, जगतजनों का मोह यह ॥ ६२॥

(दोहा)

यदी पौद्गलिक कर्म को करे न चेतनराय ।
कौन करे - अब यह कहें सुनो भरम नश जाय ॥ ६३॥

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ।। ६४ ।।

आत्मा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ।। ६५ ।।

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं ।
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं ।।
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है ।
तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है ।। ६६ ।।

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं ।
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं ।।
उपादान के ही समान कारज होते हैं ।।
जौ बोने पर जौ ही तो पैदा होते हैं ।। ६७ ।।

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय भावभूमि में व्याप्त ।
इसकारण द्रवबंध के हेतुपने को प्राप्त ।। ६८ ।।

(सोरठा)

जो निवसे निज माहि छोड़ सभी नय पक्ष को ।
करे सुधारस पान निर्विकल्प चित शान्त हो ।। ६९ ।।

(रोला)

एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ।।७० ।।

एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७१॥

एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७२॥

एक कहे ना दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७३॥

एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७४॥

एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७५॥

एक कहे ना जीव दूसरा कहे जीव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७६॥

एक कहे ना सूक्ष्म दूसरा कहे सूक्ष्म है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७७॥

एक कहे ना हेतु दूसरा कहे हेतु है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७८॥

एक कहे ना कार्य दूसरा कहे कार्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७९ ॥
एक कहे ना भाव दूसरा कहे भाव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८० ॥
एक कहे ना एक दूसरा कहे एक है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८१ ॥
एक कहे ना सान्त दूसरा कहे सान्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८२ ॥
एक कहे ना नित्य दूसरा कहे नित्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८३ ॥
एक कहे ना वाच्य दूसरा कहे वाच्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८४ ॥
नाना कहता एक दूसरा कहे अनाना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८५ ॥
एक कहे ना चेत्य दूसरा कहे चेत्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८६ ॥

एक कहे ना दृश्य दूसरा कहे दृश्य ना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८७॥

एक कहे ना वेद्य दूसरा कहे वेद्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८८॥

एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८९॥

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है ।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ॥
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को ।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ॥ ९०॥

(दोहा)

इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज ।
जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥ ९१॥

(रोला)

मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभावभावमय ।
परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय ॥
कर्मजनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं ।
नित अनुभव यह करूँ कि चिन्मय समयसार मैं ॥ ९२॥

(हरिगीत)

यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है ।
यह अचल है अविकल्प है बस यही दर्शन ज्ञान है ॥
निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है ।
जो भी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है ॥ ९३॥

निज औघ से च्युत जिसतरह जल ढालवाले मार्ग से ।
बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो आ मिले निज औघ से ॥
उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निजभाव को ।
निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ मिले ॥ ९४॥

(रोला)

है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे ॥ ९५॥

जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे ।
जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई ।
जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई ॥ ९६॥

करने रूप क्रिया में जानना भासित ना हो ।
जानन रूप क्रिया में करना भासित ना हो ॥
इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं ।
इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥ ९७॥

(हरिगीत)

कर्म में कर्ता नहीं अर कर्म कर्ता में नहीं ।
इसलिए कर्ताकर्म की थिति भी कभी बनती नहीं ॥
कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा ।
साफ है यह बात फिर भी मोह है क्यों नाचता ? ॥ ९८॥

पुण्यपापाधिकार

(सवैया इकतीसा)

जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब,
अति गंभीर चित् शक्तियों के भार से ।
अद्भुत अनुपम अचल अभेद ज्योति,
व्यक्त धीर-वीर निर्मल आर-पार से ॥

तब कर्म कर्म नहीं कर्ता कर्ता न रहा,
ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ।
और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से ॥ ९९॥

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो ।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो ॥
जब मोहरज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही ।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधानिर्झर ज्ञान ही ॥ १००॥

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में॥
एक छुए ना मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से।
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से॥
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया॥
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई ॥ १०१॥

अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है॥
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है।
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है ॥ १०२॥

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह बंध करें सब कर्म ।
मुक्तिहेतु बस एक ही आत्मज्ञानमय धर्म ॥ १०३॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥ १०४॥

ज्ञानरूप ध्रुव अचल आतमा का ही अनुभव ।
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है ॥
शेष भाव सब बंधरूप हैं बंधहेतु हैं ।
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है ॥ १०५॥

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन ज्ञानभावमय होय ।
एकद्रव्यस्वभाव यह हेतु मुक्ति का होय ॥ १०६॥

कर्मभाव का परिणमन ज्ञानरूप ना होय ।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह इससे मुकति न होय ॥ १०७॥

बंधस्वरूपी कर्म यह शिवमग रोकनहार ।
इसीलिए अध्यात्म में है निषिद्ध शतवार ॥ १०८॥

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ॥
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा ।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥ १०९॥

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो ।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो ॥
अवरोध इसमें हैं नहीं पर कर्मधारा बंधमय ।
मुक्तिमारग एक ही हैं, ज्ञानधारा मुक्तिमय ॥११०॥

(हरिगीत)

कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों ।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छंद हों ॥
जो ज्ञानमय हो परिणमित परमाद के वश में न हों ।
कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों ॥ १११॥

जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरापान से ।
पर भेद इनमें हैं नहीं जाना है सम्यग्ज्ञान से ॥
यह ज्ञानज्योति तमविरोधी खेले केवलज्ञान से ।
जयवंत हो इस जगत में जगमगै आतमज्ञान से ॥ ११२॥

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	समयसार अनुशीलन भाग-१ (१ से ६८ गाथा तक)	२०.००
२.	समयसार अनुशीलन भाग-२ (६९ से १६३ गाथा तक)	२०.००
३.	परमभाव प्रकाशक नयचक्र	१६.००
४.	पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११.००
५.	आत्मा ही है शरण	१२.००
६.	सत्य की खोज (हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़)	१२.००
७.	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	१०.००
८.	तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	७.००
९.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	७.००
१०.	बारह भावना : एक अनुशीलन	६.००
११.	आप कुछ भी कहो (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	६.००
१२.	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	५.००
१३.	गागर में सागर	५.००
१४.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५.००
१५.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	५.००
१६.	निमित्तोपादान	२.५०
१७.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी)	२.५०
१८.	युगपुरुष कानजीस्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	५.००
१९.	चैतन्य चमत्कार	२.००
२०.	पण्डित टोडरमल : जीवन और साहित्य	२.००
२१.	मैं कौन हूँ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	३.००
२२.	बालबोध पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	३.००
२३.	बालबोध पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	३.००
२४.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१ (हि., गु., म., क., अं.)	३.००
२५.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२६.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२७.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२८.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२ (हि. गु., म., क., अं.)	४.००
२९.	सार समयसार	१.५०
३०.	शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर	२.००
३१.	कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित)	१.२५
३२.	समयसार पद्यानुवाद	१.२५
३३.	योगसार पद्यानुवाद	१.००
३४.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना	१.००
३५.	शुद्धात्म शतक (अर्थ सहित)	१.००
३६.	तीर्थंकर भगवान महावीर	१.००
३७.	अनेकान्त और स्याद्वाद	१.००
३८.	शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	१.५०
३९.	अर्चना (जेवी साइज)	१.००
४०.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	१.००
४१.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	१.००

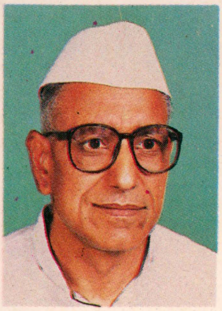

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्चकोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि.सं. १९९२ तदनुसार शनिवार, दिनांक २५ मई, १९३५ ई. को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम.ए. पीएच.डी हैं। समाज द्वारा विद्यावाचस्पति, वाणीविभूषण, जैनरत्न आदि अनेक उपाधियों से समय-समय पर आपको विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध, तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसिट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप अनेक बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैन-जगत में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी ४१ पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जिनकी सूची अन्दर प्रकाशित की गई है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ-भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ ३६ लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं।

सर्वाधिक बिक्री वाले जैन आध्यात्मिक मासिक वीतराग-विज्ञान हिन्दी तथा मराठी के आप सम्पादक हैं। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्वपूर्ण योगदान है।